कथा
कुमुदावली

कथा-कुमुदावली

[उच्चकोटि की बारह कहानियों का संग्रह]

सम्पादक
काव्यतीर्थ पं० नरेन्द्रनाथ शास्त्री, एम० ए०
साहित्याचार्य, आयुर्वेदाचार्य, आयुर्वेद शिरोमणि
(प्रतिष्ठित स्नातक, गुरुकल वृन्दावन)
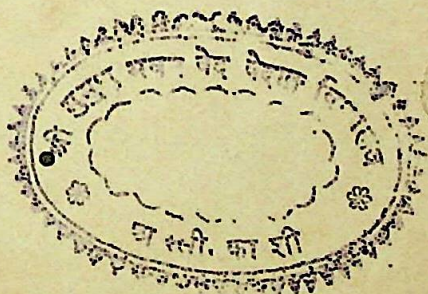
प्रकाशक—गयाप्रसाद एण्ड संस
आगरा, कानपुर, जैपुर, गवालियर

पंचम वार] १९५५ [मूल्य २॥)

तालिका

कथा-साहित्य का मूल स्रोत

कौतूहल, मनोरंजन तथा मानसिक तृप्ति के साधनों में कलात्मक दृष्टि से साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है। सामाजिक जीवन के उत्तरोत्तर विकास के साथ ही मानवीय सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार हुआ और इसी सभ्यता तथा संस्कृति की अनुपम देन साहित्य भी है। मानव जाति के विकास की परम्परा का सिंहावलोकन करने से हम अभी तक इसी तथ्य पर पहुँच पाए हैं कि साहित्य के विविध रूपों तथा अंगों का जहाँ पर जितना अधिक विशुद्ध रूप परिलक्षित हुआ है, वहीं सभ्यता तथा संस्कृति का भी विस्तार हुआ है।

सामाजिक जीवन के पूर्व ही पारिवारिक जीवन या वैयक्तिक जीवन-निर्माण का कार्य प्रारम्भ हो चुका था। पारिवारिक जीवन में रहते हुए मानव ने समाज के निर्माण करने का संकल्प किया और शनैः-शनैः पारिवारिक या वैयक्तिक-जीवन की आवश्यकताओं की पूर्त्यार्थ ही उसने समाज की आधार शिला स्थापित की। मानव को अपनी तथा दूसरे की जीवन-घटनाओं ने आगे बढ़ने के लिये प्रेरित किया—परिस्थिति, समय तथा स्वीय आवश्यकताओं की सम तथा विषम दशाओं में उसने सुख तथा दुख का भी अनुभव करना प्रारम्भ किया। प्रकृति के बहिरंग में नाना रूपों के आकर्षण तथा अपकर्षण ने उसके हृदय में एक कौतूहल उत्पन्न किया और कालान्तर में यही कौतूहल, साहित्य और विज्ञान की उत्पत्ति करने में सहायक हुआ। जो कुछ भी आश्चर्य मानव ने अनुभव किया, उसके कारण जिज्ञासा की भावना ने अपनी आत्मा की परितुष्टि के लिए—कोई भी समाधान उसको देना आवश्यक हो गया। "वरुण

देवता" प्रसन्न होकर जल की वर्षा करते हैं। यह कथात्मक रूप में वर्षा के कौतूहल की जिज्ञासा का साहित्यिक समाधान है और "गर्मी से जल वाष्प बन कर आकाश में पहुँच कर पुनः शीतल होकर वर्षा में परिणत हो जाता है" उसी कौतूहल का वैज्ञानिक समाधान है। एक में आनन्द और संतुष्टि तथा सामञ्जस्य की भावना है। द्वितीय में प्रकृति की रहस्यात्मक प्रवृत्ति का सूक्ष्म पर्यवेक्षण। इस प्रकार प्रारम्भ में मानव ने पारिवारिक जीवन में इसी कथात्मक प्रणाली का अवलम्बन कर अपने कौतूहल को शान्त किया।

आज भी पालने में पड़े हुए बच्चों को माताएँ "कौआ मामा आजा"—का किस्सा सुनाकर शान्त कर देना चाहती हैं। मानव की यही प्रवृत्ति आदि काल में भी थी और इस प्रकार यह सुगमतापूर्वक कहा जा सकता है कि मानव ने कहानी या किस्सा कहना—माता के दूध से या जन्म से अथवा पालने से ही सीखा, और उसी समय से ही—किस्से तथा कहानियों का प्रचलन है। ज्यों-ज्यों मानव के साहित्यिक, बौद्धिक तथा व्यावहारिक कार्यों का विकास हुआ और अन्य मनुष्यों ने जो उनके समकक्ष नहीं थे, उन साहसिक वीरों तथा स्नेह और प्रेम के प्रतीक तथा बुद्धि में निष्णात मनुष्यों का स्थानोचित तथा अवसरोचित उदाहरण देना प्रारम्भ किया, यही जीवन के उदाहरण अतिरंजित रूप में गढ़े जाकर किस्से तथा कहानियों के रूप में परिणत हो गए और लोक-विश्रुत होकर मनोरंजन के साधन बन गये।

चमत्कार तथा कौतूहल इन्हीं दो भावनाओं से प्रेरित होकर आरम्भ में मनुष्य ने अपना साहित्य निर्मित किया और वह गल्प या कथा साहित्य है। मनुष्यों की रुचि तथा प्रवृत्ति को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये तथा समाज में अपने नायकत्व को प्रतिष्ठा

स्थापित करने के लिए कुछ विशेष गुण वाले मनुष्यों ने चमत्कार-पूर्ण कथाओं का निर्माण किया जिनकी—सत्यता में आज भी सन्देह किया जा सकता है परन्तु उस काल के मनुष्यों ने उनको प्रत्यक्ष की भाँति ही सत्य स्वीकार किया। "देवासुर संग्राम" "इन्द्र तथा वृत्र का युद्ध" आदि किस्से उस समय कठोर प्रत्यक्ष से भी अधिक सत्य और सुन्दर थे। इस प्रकार ज्यों-ज्यों मानव ने साहित्य की दिशा में वृद्धि की त्यों-त्यों कहानियों में भी, उनकी रचनाओं में तथा उनके आधार में परिवर्तन हुआ और रागात्मक प्रवृत्ति तथा आत्मानुभूति का भी क्रमशः समावेश हुआ।

इस प्रकार कथाओं का मूल अज्ञात तथा अनिश्चित समय से ही है और उनके मूल में यही कौतूहलात्मक प्रवृत्ति थी जिसके कारण प्रत्येक देश में भिन्न-भिन्न प्रकार की कहानियों का जन्म हुआ। कौतूहल को उत्पन्न करना तथा उसको शान्त भी करना दोनों समान रूप से कथा-श्रावक के कर्त्तव्य होते थे। उस कथा-श्रावक को किसी न किसी प्रकार सत्य तथा असत्य का विवेचन न करके अपना राम-रसना जारी ही रखना पड़ता था। अतः वह होनी-अनहोनी आदि सभी घटनाओं को भानमती की पिटारी की भाँति एक में संगृहीत करना चाहता था। यह प्रवृत्ति भी हम कथा-श्रावकों में तथा वैताल पचीसी या सिंहासन बत्तीसी आदि किस्सों की पुस्तकों में उपलब्ध करते हैं। तोता मैना का किस्सा भी कालान्तर में मानव के बुद्धि वैशद्य या कौतूहलात्मक प्रवृत्ति का ही परिचायक है। कहना नहीं होगा कि प्रारम्भ में उपन्यास तथा नाटक भी प्रत्येक देश में कौतूहलोत्पन्न जिज्ञासा के समाधान के लिए लिखे गये। हिन्दी के चन्द्रकान्ता, भूतनाथ आदि इसी के निदर्शक हैं। पुनः कहानियों की विचार-धारा में परिवर्तन होने पर उपन्यासों में भी परिवर्तन होना आवश्यक था। अतः जहाँ कहानियों में आमूल चूल परिवर्तन हुआ, वहाँ उपन्यासों का स्वरूप भी साँगोपाँग नवीन

हो गया और हम इस तथ्य का स्पष्टीकरण स्वर्गीय श्री प्रेमचन्दजी की कहानियों तथा उपन्यासों में उपलब्ध करते हैं।

यह तो लौकिक कहानियों की उत्पत्ति की परम्परा है और इसी सरणि से हमको कहानियों के उद्गम पर विचार करना चाहिए। परन्तु साहित्यिक दृष्टि से यदि कहानियों के इस पहलू पर विचार किया जावे तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि संसार की प्राचीन से प्राचीनतम पुस्तकों में भी कहानियों की सत्ता विद्यमान है। बाइबिल तो गल्प आख्यायिका तथा कथाओं का भण्डार ही है। पुराण भी अथ से इति तक प्रायशः कथा-गर्भित हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थ आरण्यक, गल्प, गाथा, नाराशसी आदि सभी वेदों के व्याख्यान भूत ग्रन्थ भी कथाओं से ओत-प्रोत हैं। वेदों को ईश्वरीय ज्ञान न समझने वालों तथा उनको अखिल-ज्ञान का भण्डार स्वीकार करने में संकोच करने वालों तथा कतिपय भारतवर्षीय विद्वानों ने तो चारों वेदों में उत्तमोत्तम कथाओं का अन्वेषण किया है और कहानियों का मूल स्रोत वेदों को स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार मिश्र, यूनान आदि प्राचीन काल के सभ्य देशों में भी वहाँ की प्राचीन पुस्तकों में कथाओं का ही समावेश है। इस प्रकार वैदिक साहित्य के उपरान्त बौद्धों के जातक ग्रन्थों में भी कथाओं का ही प्राधान्य है। संस्कृत-साहित्य में भी बृहत् कथा सरित सागर, द्वाविंशत् पुत्तलिका, बैताल पंच विंशतिः तथा उसके उपरान्त पंचतन्त्रादि कथा-ग्रन्थ आते हैं। इन सभी कहानियों में वैदिक साहित्य की कथाओं को छोड़कर कौतूहल तथा चमत्कार का अथवा चमत्कृत घटनाओं का ही प्राधान्य है।

हिन्दी भाषा में इस प्रकार की मौलिक कहानियाँ नहीं उपलब्ध होतीं क्योंकि जो समय इनकी रचना का होना चाहिए था उस समय हिन्दी भाषा का जन्म ही नहीं हुआ था और जिस समय

वर्त्तमान रूप में उपलब्ध होने वाली हिन्दी भाषा का जन्म हुआ उस समय अन्य भाषाओं और देशों के कथा साहित्य ने अत्यन्त उन्नति कर ली थी। अतः हिन्दी में प्रारम्भ में मौलिक रूप में इस प्रकार की चमत्कारानुप्राणित कहानियाँ अत्यन्त ही अल्प भाषा में लिखी गईं। एक साथ ही अन्य भाषाओं के साहित्य का हिन्दी भाषा पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि हम सामाजिक या मनोवैज्ञानिक कहानियों को लेकर ही साहित्य-क्षेत्र में अवतरित हुए।

कथा-साहित्य का महत्त्व

साहित्य के विविध रूपों में कथाओं का रूप अपना एक विशेष महत्त्व तथा स्थान रखता है क्योंकि कथाओं की उत्पत्ति पूर्ण सामाजिक और हमारी अन्तरात्मा को साथ लेकर चलती है। अपने वैयक्तिक, सामाजिक और पारिवारिक जीवन के सुखों तथा दुःखों का और होने वाले घटना-चक्रों का हम सजीव प्रतिरूप कहीं देखना चाहते हैं और साथ ही वास्तविक जीवन के अभावों की पूर्ति का भी साक्षात्कार कहीं उपलब्ध करना चाहते हैं। यह कार्य छोटी कथाओं द्वारा जिस उत्तमता से निष्पन्न किया जा सकता है वैसा उपन्यासों या काव्यों अथवा नाटक द्वारा नहीं। क्योंकि उपन्यासों में विस्तार का बाहुल्य होने से और काव्य तथा नाटकों में विशिष्ट नियमों के बन्धन से हमारी रुचि का व्याघात होने की आशंका रहती है। साथ ही उनमें भी विस्तार अधिक रहता है और पात्रों तथा घटनाओं का बाहुल्य होता है, जिसके कारण हमको अपने हृदय के अन्दर उठी हुई एक भावना का अन्त देखने का कम अवकाश मिलता है। अतः छोटी कहानियों के द्वारा हम अपने जीवन तथा समाज के जीवन के चित्रों को प्राप्त करना चाहते हैं और वे चित्र भी ऐसे हों जो हमारे व्यथित हृदय को शान्त कर सकें।

हृदय जिस बात की आकांक्षा करता है वह जीवन में न मिले

तो भी हम कहानी में उसे देखना चाहते हैं। समाज की घटनाओं का सजीव चित्र कहानियों में ही संक्षेप से अंकित किया जा सकता है और हमको अवकाश तथा सुविधानुसार उन्हीं का आश्रय लेना पड़ता है।

अतः वर्त्तमान जीवन में जब हमको अन्य कार्यों से ही अवकाश नहीं है, हम थोड़े में ही अपना मनोरंजन करना चाहते हैं। इसके लिए लघु कहानियाँ ही उपयुक्त हैं। कथा-साहित्य के द्वारा हम जीवन के प्रत्येक पहलू का विश्लेषण कर सकते हैं। कहानियों का शैशव काल से वृद्धावस्था तक सम्बन्ध रहता है।

"एक था राजा" नानी और दादी के मुख से निकले हुए यह शब्द भोले बच्चे को कैसी सान्त्वना प्रदान करते हैं! बच्चे की 'हॉमी' भरने में क्या मिठास है यह तो एक भुक्त भोगी ही जान सकता है। यौवन का उन्माद, प्रेम की तड़पन, समाज का अत्याचार तथा विद्रोह का चित्रण कथाओं के द्वारा मनुष्य जो तृप्ति करता है वह काव्य या उपन्यासों का विषय नहीं। यह जीवन की मधुरिमा और उमड़ते हुए हृदय के उच्छ्वास जब हम कहानियों में अंकित देखते हैं तब हमें आश्वासन होता है। सान्त्वना से हम एक ठंडी सांस लेते हैं। वृद्धावस्था में हमारी अन्य शक्तियों के पराभूत हो जाने पर घर के नाती और पोते कैसी लालसा से बाबा के पास "हाँ बाबा लोमड़ी नानी और नमूटन मुसटिया ने कैसे शेर को मार डाला आदि आदि" कहते हैं। वृद्धावस्था में हम इन कहानियों के द्वारा ही घर के बच्चों में अपने मन की तृप्ति इन कथाओं के बहाने ही से करते हैं। तात्पर्य यह है कि कथाओं का हमारे जीवन से अविच्छिन्न सम्बन्ध है। जो स्थायी प्रभाव छोटी कहानियों द्वारा हमारे हृदयपटल पर पड़ सकता है वह नाटकों, उपन्यासों अथवा निबन्धों द्वारा नहीं हो सकता। नाटकों में हमें आद्योपांत सम्पूर्ण पात्र का

अध्ययन करना होता है। अनेकों घटनाओं में मस्तिष्क भ्रमण करता है और फिर भी एक सांस में या एक बैठक में हम उसे समाप्त करने में असमर्थ रहते हैं। उपन्यासों की भी वही अवस्था है। काव्यों में भी हम इतनी तन्मयता अथवा अपने जीवन की प्रत्यक्ष झाँकी न होने से वह उल्लास नहीं प्राप्त करते जो कहानियों के द्वारा हो सकता है। प्रारम्भिक वय में हमारी उत्सुकता तथा कौतूहल हमें विश्व की सम्पूर्ण बातों को जानने के लिए प्रेरित करता है। और इसीलिए बच्चों को जादूगर के खेल या जादूगरी की अद्भुत कहानियाँ अधिक आकृष्ट करती हैं।

पंच तन्त्र, हितोपदेश आदि के द्वारा हम बालकों के हृदय-पटल पर एक सुन्दर उद्देश्य अंकित कर देते हैं और कहानी के लिबास में होने से वह निगलने में आस्वाद युक्त प्रतीत होता है। "लालच नहीं करना चाहिए क्योंकि लालच करने से सोने का कंगना और मुसाफिर की तरह तुम भी शेर द्वारा मारे जाओगे।"

यह कथा सात वर्ष की अवस्था में ही सुनी थी और आज भी उसी प्रकार से अङ्कित है और लोभ से बचाती रहती है। इसी प्रकार की शिक्षाप्रद अन्य कहानियाँ हमारे साहित्य में कुमारावस्था के लिए लिखी गई थीं। आगे चल कर मानव ने अपनी अन्तस्तुष्टि के लिए या अपने जीवन की सम एवम् विषम परिस्थितियों के विभिन्न चित्रों का अवलोकन करने के लिए मनोवैज्ञानिक, सामाजिक अनुभूति प्रधान कहानियों की सृष्टि की। इस प्रकार कथा-साहित्य का महत्त्व हमारे जीवन में उत्तरोत्तर होता गया और आज इन लघु कहानियों ने हमारे जीवन में अवकाश को भरने में तथा उस अवकाश को मनोरंजन प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है। साम्प्रतिक मनोरंजन के साधनों में चल चित्रपटों का भी महत्त्व-पूर्ण स्थान है। उनमें लघु कथाओं का ही सचेष्ट चित्रण होता है

और वे भी एक विशेष प्रकार की नाटक तथा कथाओं से मिश्रित लघु कथायें ही हैं, जिनके द्वारा हम मनोरंजन करते हैं और साथ ही हृदय की सजीव अनुभूतियों का साक्षात्कार भी करते हैं। इन कथाओं ने चल चित्रपटों का आश्रय लेकर साहित्य के आवश्यक अंग नाटकों का निर्वासन-सा कर दिया है। फलतः सम्प्रति अभिनेय न होने से तथा जीवित-जाग्रत नटों तथा नटियों के अत्यन्त व्यय-साध्य होने अथवा और भी विघ्नों के कारण साहित्य में नाटकों का निर्माण कम हो गया है। और जो कुछ होता भी है उनका मूल्य केवल साहित्यिक ही रह गया है न कि नाटकीय। अतः अप्रत्यक्ष रूप से इन कहानियों ने हमारे जीवन की मनोरंजक अंश में पूर्ति की है। आज हम घटनाओं के पीछे न जाकर जीवन की सत्यता और हृदय की अनुभूतियों को काव्य, नाटक, उपन्यास और कहानियों में प्राप्त करना चाहते हैं और इसीलिये जीवन की अनेकानेक समस्याओं में व्यस्त होने के कारण हम कहानियों के द्वारा ही अपना अभीष्ट सिद्ध कर सकते हैं। अतः हम साम्प्रतिक जीवन में कहानियों का सर्वसाधारण की प्रियता को देखते हुए साहित्य के विविध अंगों की अपेक्षा उच्चतम स्थान अनुभव करते हैं।

कथाओं के विविध रूप

जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है कथाओं का हमारे जीवन से अज्ञात काल से सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध हमारी अवस्था, परिस्थिति, प्रगति तथा रुचि की विभिन्नता से समय-समय पर विभिन्न होता गया है। जिस समय मानव, समाज में रहने की प्रक्रिया का आविष्कार कर रहा था और शनैः शनैः उसका जीवन दूसरों के आश्रित होने लगा था, उस समय उसके हृदय की अवस्था तथा वर्तमान समय की मानव के हृदय की अवस्था में महान् अन्तर हो गया है। उस समय उसको एकमात्र आत्म-रक्षा तथा आत्म-उदर-पोषण की

समस्याओं में ही उलझा रहना पड़ता था और ऐसे समय में किन्हीं मनोवैज्ञानिक सत्यों की विवेचना आत्मानुभूति का चित्रण असम्भव था। अतः हम उस समय की दैवी और मानुषी शक्तियों की कहानियों में इन्द्र, वरुण, यमराज, कुवेर, अग्नि, वायु, समुद्र एवं पृथ्वी आदि की अनेकानेक कथाएँ मानव ने उनके प्रति अपना आभार प्रकट करने के लिए निर्मित कीं। और मनुष्यों के हृदय में एक तरह की विभीषिका, आतंक साथ हीं श्रद्धा और भक्ति के भरने की चेष्टा भी की। हम इस प्रकार की कहानियों को प्रायः सभी देशों के साहित्य में उपलब्ध करते हैं। राम और कृष्ण की कहानी भी प्रारम्भ में वीर कथा के रूप में ही बालक को श्रवण कराई गई होगी। वृत्रासुर की कथा, देवासुर संग्राम की कथा, समुद्र-मन्थन की कथा आदि इसी वीरानुप्राणित दैवी कथाओं की सृष्टि है। यूनान तथा मिश्र की प्राचीन कहानियों में भी हम यही भावना उपलब्ध करते हैं। इस प्रकार प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन करने से हमें उनमें यत्र-तत्र बिखरी हुई इन्हीं (दैवी तथा वीरतापूर्ण मानवीय कहानियों) की उपलब्धि होती है। यह कथाओं का प्राचीन युग है।

उपरान्त जब मनुष्य की सामाजिक स्थिति दृढ़ हो चली और उसको संसार का ज्ञान विषद रूप से हो चला, साथ ही विश्व के प्राणियों की प्रकृति और स्थिति को समझने में वह निष्णात हो गया तब उसने कल्पनात्मक आदर्शवाद तथा स्थूल शिक्षा के आधार पर गल्पों का निर्माण किया। इन ग्रन्थों में प्राणियों के द्वारा शिक्षा देना उनकी प्रकृति का परिचय तथा मानव के कर्त्तव्यों को बतलाने की भावना का समावेश होता है। इनमें घटनाओं की ही प्रधानता थी और इनके द्वारा मनुष्य ने अपनी बुद्धि तथा सूझ का परिचय दिया। ऐसे ही समय में मस्तिष्क की उर्वरता तथा कौतूहल-निर्माण-कला का परिचय देने के लिए मानव ने नाना

प्रकार के उपन्यास, ऐय्यारी की कथाएँ; जासूसी कहानियाँ आदि निर्मित कीं। इस प्रकार पूर्व की घटना-प्रधान शिक्षा-प्रद कहानियाँ तथा उत्तरकालीन कहानियों को कौतूहल प्रधान घटना पूर्ण कहानियों के नाम से कह सकते हैं। इस काल की कहानियों का समय तथा क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। और इस प्रकार की कहानियाँ भी प्रचुर मात्रा में प्रत्येक देश के साहित्य में उपलब्ध होती हैं।

संस्कृत की वृहत् कथा से लेकर दशकुमार की कथा तक और हिन्दी में जासूसी और तिलस्मी उपन्यासों के सहित बैताल पचीसी, सिंहासन बतीसी आदि इस प्रकार की कहानियों के उदाहरण हैं। वर्त्तमान समय में भी इस प्रकार की कौतूहल प्रधान कहानियों का निर्माण हो रहा है। और प्रत्येक समय में बालकों तथा कम पढ़े-लिखे मनुष्यों के लिए इस प्रकार के साहित्य का सृजन समाप्त नहीं हो सकता। परन्तु साहित्य की महान् धारा इस प्रकार के व्यत्ययों से या अपवादों से परिवर्त्तित नहीं होती। सम्प्रति शिक्षित जनता की प्रवृत्ति इस दिशा की ओर नहीं है। अतः इसको हम कहानियों का मध्य युग कह सकते हैं।

शनैः शनैः हम कहानियों के वर्त्तमान युग में पदार्पण करते हैं और एक साथ ही कथाओं के रूप में भी महान् परिवर्तन पाते हैं। काव्यों के विषय के परिवर्तन के साथ ही साथ साहित्य के सभी अंगों में परिवर्तन हो जाना आवश्यक हो जाता है। और इसी कारण हम सम्प्रति उपन्यासों, नाटकों, कथाओं तथा कविताओं में कला का सूक्ष्म रूप उपलब्ध करते हैं। हमें केवल शिक्षाप्रद या कौतूहल प्रधान उपन्यास अपेक्षित नहीं। उत्सुकतापूर्ण कथायें आत्म-तुष्टि नहीं करतीं। घटनाओं की अनेकरूपता भी हमें अब अपनी ओर आकृष्ट करने में असमर्थ है। इस समय तो हम हृदय की भावनाओं और अभावों के द्वारा उत्तम मन से सन्तुष्ट करने वाली

साहित्यिक वस्तु की अभिलाषा करते हैं। वस्तुस्थिति तथा सत्य की अनुभूति की भावनाओं से हमारा हृदय सन्तुष्ट होता है। सुखों और दुखों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण चाहते हैं—कहानी के साथ रोना और हँसना चाहते हैं। पात्रों के चरित्र की ओर दृष्टिपात कर उनके द्वारा होने वाली अनुभूतियों का हम अपने जीवन की सार्थकता का अनुभव करते हैं। इस प्रकार वर्तमान समय तक निम्न सोलह रूप कहानियों के उपलब्ध करते हैं—

१—घटना प्रधान कहानियाँ,
२—चरित्र-प्रधान कहानियाँ,
३—शिक्षा प्रधान कहानियाँ
४—आदर्श-प्रधान कहानियाँ,
५—मनोवैज्ञानिक सत्य की आधारभूत कहानियाँ,
६—सामाजिक कहानियाँ,
७—अनुभूति-प्रधान कहानियाँ,
८—प्रेम और वीरता की स्थायी साहित्य-सामग्री प्रधान कहानियाँ,
९—राष्ट्रीय कहानियाँ
१०—आत्म-कथायें,
११—आविष्कार सम्बन्धिनी कहानियाँ
१२—आध्यात्मिक कहानियाँ
१३—हास्य-रस की कहानियाँ,
१४—पत्रात्मक कहानियाँ,
१५—सम्वादात्मक कहानियाँ,
१६—कार्यक्रमात्मक कहानियाँ।

समाज में भिन्न-भिन्न रुचि तथा प्रकृति के अनुसार विविध कहानियों की सृष्टि होती रहती है। इस समय में उपलब्ध कहानियों की प्रगति में हम जीवन की विषमताओं और अन्तर्द्वन्द्व की प्रधानता उपलब्ध करते हैं। और यही कहानियाँ हमें मनोनीत होती हैं। क्योंकि इससे कहानी-कला का ललित-पक्ष अधिक सुन्दर तथा मनोरम रूप में अभिमंजित हो सकता है। काव्यों का हृदय-पक्ष कहानियों में आकर जीवन की अनुभूतियों के रूप में विकसित हो जाता है। और इसको विकसित करने का उत्तम साधन अन्तर्द्वन्द्वों का चित्रण करना ही है। यही पाठकों की मनोवृत्ति को

पात्रों के साथ-साथ चलने को प्रेरित करती है। और हम उनके साथ रोते या हँसते हुए चलते हैं।

उपन्यास, गल्प, कथा, कहानी, आख्यान, आख्यायिका, गाथा आदि यत्किंचित् भेद से सब कथा-साहित्य के अन्दर ही परिगणित किये जा सकते हैं। आकार-प्रकार के भेद से, वर्णन की शैली तथा कथानक के विभेद से, सत्य एवं असत्य के समिश्रण से, केवल कल्पनाओं के सम्बन्ध से ही इन सबका यत्किंचित् विभेद है। पर इन सबको कथा के अन्दर ही सम्मिलित करना व्यापक दृष्टि से उचित प्रतीत होता है। उपन्यासों को चाहे उनके आकार-प्रकार तथा शैली एवं भाषा और कथानक के दृष्टिकोण से विभिन्न साहित्य भी स्वीकार करलें परन्तु कथा, कहानी, गल्प, गाथा, आख्यायिका आदि में तो केवल रूप और कुछ थोड़ा-सा कथानक का ही भेद है, अन्यथा नहीं।

कहानी की परिभाषा

कहानी किसे कहते हैं यह कहना अत्यन्त कठिन है। कहानियों के भिन्न-भिन्न रूप उपलब्ध होने के कारण सामान्य रूप से सर्वत्र एक जैसी ही सामान्य परिभाषा लागू हो सके, यह अत्यन्त कठिन है। कहानियों में सामान्य रूप से असत्य का अंश अवश्य प्राप्त होता है। प्राचीन, मध्यकालीन या अर्वाचीन कहानियों में चाहे वे किसी रूप की क्यों न हों असत्यात्मक अंश पर्याप्त रूप में प्राप्त होता है। हम जानते और समझते हैं कि यह बात असम्भव है और ऐसा कभी नहीं हो सकता। परन्तु फिर भी हम अत्यन्त प्रेम, उत्सुकता और तल्लीनता से कहानियों को पढ़ते और सुनते हैं। कहानियों को पढ़ते समय हमारे हृदय में कहानियों की सत्यता या असत्यता के विचार ही नहीं उठते। हम तो कथानक में ही तल्लीन रहते हैं और उसी के भावावेश में

बहने लगते हैं। कहानी-लेखक की कला इसी बात में स्पष्ट होती है कि वह असत्य तथा मिथ्या वर्णन को भी सुन्दरतम रूप देकर सत्य में परिणत कर देवे। शिक्षा-प्रद कहानियों में मानव ने पशु और पक्षियों के दृष्टान्त रखकर केवल नीति का ही उपदेश दिया है। जिस प्रकार काव्य की मिथ्या, काव्यों में कुरूपता उत्पन्न न करके काव्य के अलंकार स्वरूपिणी हो जाती है, इसी प्रकार इन कहानियों में कौतूहल को उत्पन्न करने वाले इन पात्रों का मिथ्यात्व कहानियों की शिक्षा में इतना मिल जाता है कि उनके मिथ्या-स्वरूप का हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। और हम ऐय्यारी या जासूसी के उपन्यासों की भाँति आगे होने वाली घटनाओं के ही पीछे पड़ जाते हैं। अतः कहानी के रूप में कलात्मक दृष्टि से मिथ्या उसका एक गुण है।

कहानियों के द्वारा इस जीवन की अपूर्ण बातों को पूर्ण रूप में देखना चाहते हैं। अतृप्त भावनाओं की तृप्ति चाहते हैं। यह तृप्ति हमें यथार्थ जीवन में उपलब्ध नहीं होती और हमारे हृदयों में एक प्रकार की तड़पन-कराह-सी होती रहती है। हम अपने इस अभाव की पूर्ति कहानियों द्वारा करते हैं। अतः कहानी सर्वांश में पूर्ण होती है। यही सत्य है जो कहानियों में व्यापक रूप से प्राप्त होता है। अतः संक्षेप में कहानी वह कला है ("जिसके द्वारा हम कल्पित पात्रों या कल्पित घटनाओं द्वारा एक ही प्रकरण में मनोरंजक रूप में अपने मनोभावों को व्यक्त कर सकें, और जो किसी सत्य का उन्मीलन भी कर सकें") यद्यपि जैसा पूर्व कहा जा चुका है कि हम पूर्ण रूप से व्यापक कोई परिभाषा नियत नहीं कर सकते; परन्तु फिर भी कहानियों के रूप और उद्गम को देखते हुए हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि कहानियों के द्वारा मनस्तुष्टि की भावना के साथ ही साथ हम अपने जीवन के अभावों की पूर्ति

उनमें देखना चाहते हैं। साथ ही जीवन का उच्च लक्ष्य अथवा आदर्श उनमें प्रतिफलित करना चाहते हैं। अनावश्यक विस्तार या वस्तुस्थिति का अतिरंजित रूप अथवा घटना-चक्रों का बाहुल्य उनमें न हो। मनोवैज्ञानिक सत्य और समाज-गत सत्यता का प्रतिपादन करने में समर्थ हो। इसी प्रकार की कहानियाँ साम्प्रतिक रूप में हमें मनोनीत हैं।

हिन्दी कहानियों का संक्षिप्त इतिहास

जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है। कहानियों का मूल स्रोत अद्यावधि अज्ञेय है। और हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि किसकी सबसे उत्तम कहानी, कब, कैसे, कैसी, कहाँ तथा किसके द्वारा कही गई। हाँ, इतना अवश्य है कि कथा-साहित्य प्रत्येक भाषा में तथा प्रत्येक बोली में उपलब्ध होता है।

हिन्दी की कहानियों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि सर्व प्रथम हिन्दी के अन्य साहित्यिक अंगों के समान कथा-साहित्य का उद्‌गम भी अनुवाद से ही प्रचलित हुआ। हिन्दी-साहित्य के काव्य, नाटक, उपन्यास सर्व-प्रथम अनुवाद के ही रूप में उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार कथा-साहित्य भी संस्कृत साहित्य से अनुदित किया गया। पंच-तन्त्र, वृहत-कथा, कथा सरित सागर, वैताल पंच विंशति; आदि संस्कृत ग्रन्थों की कहानियों का अनुवाद हिन्दी ग्रन्थों में किया गया। और इसी के उपरान्त बंगला, मराठी तथा अँग्रेजी साहित्य की कहानियों के अनुवाद भी हिन्दी में किये गये। हितोपदेश (हिन्दी वैताल पचीसी) सिंहासन बत्तीसी आदि कथायें हिन्दी में उपलब्ध होती हैं। बंकिम बाबू, शरत बाबू फिर रवीन्द्रनाथ टैगोर की कहानियों को हिन्दी में स्थान मिला। यह हिन्दी कहानियों का प्रारम्भ काल का युग था। उसी समय के आस-पास द्वितीय काल में कुछ जासूसी

कहानियाँ अँग्रेजी के आधार पर और मौलिक रूप में लिखी गईं। उनमें किसी प्रकार की मौलिक या साहित्यिक देन के नाम से कही जाने वाली कोई वस्तु उपलब्ध नहीं होती। कुछ बौद्धों के जातक कथाओं के अनुवाद भी हिन्दी में किये गये। इस प्रकार स्वतन्त्र कथा-साहित्य की उत्पत्ति के लिए इन अनुवादों ने विशेष प्रोत्साहन दिया। अन्य भाषाओं की, विशेषकर बंगला की प्रत्यक्ष तथा परोक्ष की मिली हुई भावनाओं से प्रेरित होकर साहित्यिक कथाओं का सृजन हिन्दी में भी होने लगा। इसी काल में हिन्दी में "हिन्दू" और "सरस्वती" दो प्रमुख पत्रिकायें थीं और हिन्दी में लेखकों ने कुछ अनुवाद और कुछ जासूसी कहानियाँ लिखना प्रारम्भ कीं। श्री गोपालराम गहमरी ने जासूसी कहानियाँ तथा उपन्यास विशेष रूप से लिखे। लघु कथाओं में साहित्यिक रूप का पुट हमें श्री किशोरीलालजी की इन्दुमती नाम की कहानी में सर्व प्रथम प्राप्त होता है। इसी समय मिर्जापुर की रहने वाली एक बंगीय महिला ने दुलाई वाली नाम से कहानी प्रकाशित की। इसके उपरान्त तीसरी कहानी हमें रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' प्राप्त होती है। यद्यपि इन कहानियों का मूल्य वैसा नहीं है जैसा कि हमें साम्प्रतिक कहानियों का प्राप्त होता है परन्तु वह समय प्रारम्भ का था अतः इन फुटकर रचनाओं में भी हमें यत्किंचित साहित्य की भावना उपलब्ध होती है और इसी से संतोष करना पड़ता है।

इसके उपरान्त पूर्ण रूप से साहित्यक कहानियों की परम्परा सर्व प्रथम हमें श्री जयशंकर प्रसादजी में उपलब्ध होती है। आपने आकाश दीप, चित्र मन्दिर, प्रतिध्वनि, विसाती, स्वर्ग के खंडहर, ग्राम आदि कहानियाँ उस समय लिखीं। यद्यपि भाषा की दृष्टि से वे कहीं-कहीं दुरूह हैं और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के कारण

उनके प्रवाह में शैथिल्य आ गया है परन्तु फिर भी आपकी कहानियाँ उच्च साहित्यिक स्तर की हैं। इसी समय में श्री विश्वम्भरनाथजी जिज्जा और श्री विश्वम्भरनाथजी कौशिक ने भी कहानी लिखना प्रारम्भ किया। श्री जिज्जा की कहानियों में पजाव मेल और परदेशी अधिक प्रसिद्ध हैं। कौशिकजी की कहानियों का एक प्रवाह है और उन्होंने हिन्दी में अनेक विविध भावनाओं की कहानियाँ दी हैं। कथोपकथन तथा नैतिक उद्देश्य आपकी कहानियों की विशेषताएँ हैं। श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरीजी ने भी अपनी कहानियाँ लिखीं। यद्यपि आपकी केवल तीन कहानियाँ ही प्राप्त हैं। परन्तु 'उसने कहा था' कहानी हिन्दी-साहित्य में अमर है। इनके उपरान्त हिन्दी-कथा-साहित्य में काया-कल्प उपस्थित करने वाले और हिन्दी के कथा-साहित्य को अमर बनाने वाले श्री प्रेमचन्दजी ने हिन्दी-कथा-साहित्य में प्रवेश किया। आपने अतीत के गौरवों को स्थान न देकर विशेषतया सत्य तथा यथार्थ जीवन की समस्याओं का ही चित्र अपनी कहानियों में अवतरित किया। देहाती जीवन की यथार्थता हमें आपकी कहानियों में उपलब्ध होती है और आगे चलकर उन्होंने मनोवैज्ञानिक सत्यों और अन्तर्द्वंद्वों को अपनी कहानियों में इस प्रकार प्रकट किया यह उनके अन्तिम काल में लिखे गये सम्पूर्ण कथा-साहित्य से उपलब्ध होता है। श्री रायकृष्णदासजी ने भी कहानियाँ लिखीं। परन्तु आपकी कहानियों में सूक्ष्म निरीक्षण कला का पुट और काल्पनिक चित्रण अधिकता से प्राप्त होता है। श्री चंडीप्रसादजी 'हृदयेश' की कहानियों की अपनी निराली ही शैली है। उनकी कहानियों में गद्य-काव्य की छटा निरखती हैं। उनमें कल्पनाओं का ही पुट अधिक है। वस्तु-विन्यास या मनोरंजक सत्यों का नहीं।

श्री सुदर्शनजी की कहानियों का हिन्दी साहित्य में विशेष

मूल्य है। उनकी कहानियों की भाषा सरल, सुबोध और कहानियों का चर्माह्लाद पाठकों के हृदयों में एक विशेष प्रकार की उत्सुकता तथा प्रफुल्लता उत्पन्न करता है। श्री बेचनजी शर्मा उग्र की कहानियों में समाज के नग्न जीवन का चित्रण है और रोचक ढंग से है। यथार्थता का चित्रण होते हुए भी उनका प्रभाव पाठक के हृदय में कुछ ग्लानि तथा विक्षोभ का संचार करता है। सामाजिक जीवन के निहित अंग का ही वर्णन होने से सत्य होते हुए भी साहित्यिक दृष्टि से उनका हिन्दी में विशेष मूल्य नहीं है। क्योंकि जिस आदर्श को लेकर आपने कहानियाँ लिखी थीं, उससे समाज का उत्थान न हो सका। श्री जैनेन्द्रकुमारजी की कहानियों में पारस्परिक सहानुभूति की भावना उच्च रूप में प्राप्त होती है। आपकी भाषा तथा कल्पनायें सरल तथा व्यवस्थित न होते हुए भी कला का सुन्दर चित्र हमारे सामने उपस्थित करती हैं। और हमें अँग्रेजी साहित्य की उच्च कहानियों --- स्मरण दिलाती हैं। श्री चतुरसेनजी शास्त्री की कहानियों में ...रोचित भाव पूर्ण रूप से उपलब्ध होते हैं। आपकी कहानियों में प्रगतिशीलता है। भाषा का प्रवाह उत्तम है और कथानक भी सुन्दर है। कहानी का आरम्भ अत्यन्त रोचक होता है। पात्रों का चयन तथा कथोपकथन भी अत्यन्त आकर्षक होता है। वर्त्तमान कहानी लेखकों में श्री अज्ञेयजी और श्री भारतीयजी की कहानियाँ मनोवैज्ञानिक संघर्ष का उत्तम चित्रण करती हैं। आपकी कहानियों में पात्रों का अत्यन्त उज्ज्वल रूप चित्रित हुआ है। श्री अज्ञेयजी के तथा श्री भारतीयजी के उत्तम तथा विचारपूर्ण निबन्ध भी प्राप्त होते हैं। आप की भाषा भी अत्यन्त प्रौढ़ और परिमार्जित होती है। श्रीभगवतीचरणजी वर्मा कुशल सम्पादक, लेखक तथा कहानी-लेखक भी हैं। आपकी कहानियों में मधुर हास्य का मिश्रण रहता

है। आपकी कहानियों का आधार प्रायः आधुनिक अँग्रेजी शिक्षा सम्पन्न नवयुवक तथा युवतियों का होता है। इसके साथ ही आप हिन्दी के उच्चकोटि के कवि भी हैं। आप एक कुशल उपन्यासकार भी हैं। आपकी कहानियों का विन्यास अत्यन्त आकर्षक और शिक्षापूर्ण है। कला की दृष्टि से भी आपकी कहानियाँ हिन्दी में अपना विशेष स्थान रखती हैं। इसके अतिरिक्त हिन्दी के अन्य प्रमुख कहानी लेखकों में श्री मोहनलाल महतो, श्री रामेश्वर शुक्ल अंचल, श्री वाचस्पति पाठक, श्रीनाथसिंह, श्री ऋषभचरण, श्री यशपालजी, श्रीचन्द्रगुप्तजी विद्यालंकार, श्री कृष्णदेवप्रसादजी, श्री प्रतापनारायणजी श्रीवास्तव, श्रीअन्नपूर्णानन्दजी आदि अन्य लब्ध प्रतिष्ठ कहानी लेखक हैं। इस प्रकार इन दिनों कथा-साहित्य का पूर्ण विकास हो रहा है और आशा है कि कुछ वर्षों में हमारा हिन्दी का कथा-साहित्य विविध रूपों में विकसित होकर विश्व के अन्य देशों के कथा-साहित्य के समकक्ष हो सकेगा।

कहानियों के मौलिक तथ्य

कहानी-लेखक को सब से पूर्व अपनी कहानी का ढाँचा तैयार करने के लिए कुछ आवश्यक वस्तुओं का संग्रह करना होता है और उन्हीं की श्रेष्ठता पर कहानी की उत्तमता स्थिर की जाती है। जिस प्रकार शरीर का सौष्ठव उसके अंग-प्रत्यंगों पर आश्रित है, उसी प्रकार कहानियों की उत्तमता भी उसके मौलिक तथ्यों अथवा अंगों पर आश्रित होती है।

(१) कथावस्तु—सब से पूर्व कहानी लेखक अपने लक्ष्य की एक निश्चित भावना का अपने मन में पूर्ण रूप से विचार करता है। वह एक ही भाव या विचार को (नाना भावों को नहीं) अत्यंन्त उत्तमता से कहानी के द्वारा व्यक्त कर सकता है। वह भाव सर्वप्रथम कथा-लेखक के हृदय को उस भावना में द्रवीभूत कर देता

है; और लेखक बाध्य होकर अपने हृदय में चुभते हुए उस भाव को ही व्यक्त करना चाहता है। यही मुख्य कथावस्तु होती है। इसके चयन का लेखक को विशेष ध्यान रखना चाहिए। तभी उसकी कहानी पाठकों को भी मनोनीत हो सकेगी। जैसा अनुभव उसने स्वयं कथानक का अपने हृदय में किया है वैसा ही उसके पाठक भी अनुभव करते चलें तभी लेखक के कथानक-चयन की विशेषता है।

(२) पात्रों का चयन तथा चरित्र-चित्रण—कथानक चयन के उपरान्त लेखक को यह आवश्यक है कि वह उन पात्रों को चुने जो उसके कथानक को पूर्ण रूप से चरितार्थ कर सकें। कथानक के अनुरूप ही पात्रों का चयन होता है और इसी समय लेखक को अपने पात्रों के चरित्र के चित्रण करने में भी पूर्ण सावधानी से काम लेना पड़ता है। पात्रों के चरित्र से ही पाठक लेखक का व्यक्तित्व अनुभव करता है, और कहानी की उपादेयता सम्बन्धित हो जाती है। अतः यह समुचित ढङ्ग से समाप्त कर लेने के उपरान्त लेखक अपनी कथावस्तु की भाषा तथा शैली को सँवारने का उपक्रम करता है।

(३) भाषा तथा शैली—भाषा की सरलता तथा उसका प्रवाह कहानी को पाठकों के हृदयंगम कराने में सहायक होते हैं। साधारण शिक्षित व्यक्ति भी भाषा को सरलतापूर्वक निगलते चले जावें और उनके बीच-बीच में यदि अप्रचलित, दुरूह तथा कठोर शब्दों का व्यवधान न आवे तो कथा अत्यन्त मधुर और सुबोध हो जाती है। इसके साथ ही लेखक मुख्य घटना या कथानक को और भी स्पष्ट करने के लिये अन्य घटनाओं का भी समावेश करता है।

(४) अवांतर घटनाओं का समावेश—लेखक को इन घटनाओं के संकलन में अत्यन्त सुव्यवस्थित होना चाहिये क्योंकि घटनाओं का बाहुल्य हो जाने से या केन्द्रीय घटना को अन्य

घटनाओं के द्वारा आक्रान्त होता हुआ देखकर कथा का चर्मोह्लाद (क्लाइमैक्स) प्रदर्शित करने में असुविधा होती है और पाठक का चर्मोह्लाद प्राप्त होने में भी संदेह ही रहता है। अतः अर्वांतर घटनाएँ मुख्य घटना की अर्पिका ही होनी चाहिये। स्वतंत्र रूप से कहानी में उनका कोई महत्व नहीं।

(५) कथोपकथन—लेखक उपन्यासों के अनावश्यक विस्तारों को तिलांजलि देता हुआ अपने पात्रों के कथनोपकथन को भी अत्यन्त नपे-तुले शब्दों में प्रयुक्त करता है और उनका एक-एक कथन किसी भविष्य के रहस्य को लिए हुए हो तो और भी उत्तम होता है। पात्रों का कथन, उपदेश या वर्णन के रूप में कदापि न होना चाहिये। कथा की पूर्ण सजीवता की रक्षा इन कथोपकथनों पर ही आश्रित रहती है। अतः इनका विन्यास सम्यक्तया होना चाहिये।

(६) देशकाल तथा परिस्थिति परिचय—कहानी लेखक को इसके साथ ही अपनी कथा-वस्तु के अनुरूप ही परिस्थिति तथा देश-गत स्थिति का भी विवेचन करना होता है। प्राचीनकाल या मध्यकाल की कहानियों का वातावरण या भाषा आदि उस परिस्थिति और देश के अनुरूप ही होनी चाहिये। समय का विभाग करते समय भी इस बात का पूर्ण ध्यान रखना चाहिये।

कथाओं के ५ प्रकार

साधारणतः कहानियों के लिखने के ५ प्रकार हैं:—

(१) आत्मकथा—लेखक स्वयं या किसी अन्य वस्तु को सजीव स्वरूप देकर, उसका स्वयं प्रतिनिधि होकर उसकी कहानी का चित्रण करता है या स्वयं अपनी कहानी लिखता है।

(२) सम्वादात्मक—इन कहानियों में सम्पूर्ण कथानक सम्वादों में ही समाविष्ट रहता है और लेखक स्वयं भिन्न-भिन्न स्वरूपों

से उन पात्रों में आत्मीयता का अनुभव कर संवादात्मक कहानियों की रचना करता है।

(३) पत्रात्मक—लेखक पत्रों के रूप में किसी कथा का आयोजन करता है और उन्हीं पत्रों द्वारा वह कहानी के अभिप्रेत तत्त्व को निष्पन्न करने की चेष्टा करता है।

(४) कार्य-क्रमात्मक—इन कहानियों के द्वारा लेखक पात्रों की डायरियाँ निर्मित कर अभीष्ट साधन का प्रयत्न करता है और इस कार्य-क्रम से ही पाठकों का मनोरंजन या उनको वस्तु-स्थिति से परिचित कराता है।

(५) साधारण—इनके अतिरिक्त कहानियाँ वे हैं जो हमें साधारणतया साहित्य में उपलब्ध होती रहती हैं और उनके लिए कहानियों के मौलिक तत्त्वों का निरूपण करना होता है।

कथा के चार भाग

कहानी-लेखक को कथा आरम्भ करने से पूर्व अपनी कहानियों के चार विभागों का पार्यालोचन कर लेना आवश्यक होता है।

(१) शीर्षक—सर्वप्रथम लेखक को शीर्षक चुनने का प्रयत्न करना पड़ता है। शीर्षक आकर्षक, उत्सुकतापूर्ण, रहस्यात्मक तथा कहानी के चर्मोह्लाद से सम्बन्धित होना चाहिए। इसके ही चुनाव के पीछे कहानी का सम्पूर्ण कथानक आवान्तरित होना चाहिये।

(२) प्रारम्भ—कथा का प्रारम्भ अत्यन्त रोचक तथा उत्सुकता-पूर्ण होना चाहिए। इसकी उत्तमता पर ही पाठक का स्वारस्य उत्तरोत्तर बढ़ता है। अत्यन्त कुशलता के साथ लेखक को इसका निर्वाह करना चाहिए।

(३) मध्य-भाग—कहानी के उत्तरोत्तर विकास के मध्य में प्रायः आवश्यक घटनाओं का समावेश हो जाना चाहिए और

शनैः शनैः पाठक को सम्पूर्ण पात्रों से मध्य मेंआवश्यक रूप से परिचित हो जाना चाहिए।

(४) समाप्ति—इस प्रकार का पूर्ण विकास करके समाप्ति के समय लेखक को पाठक का अन्वेषण कर उसका निर्वाह करना चाहिए जिससे पाठक कहानी की पूर्णता अनुभव कर, कुछ समय के लिए आनन्द विभोर हो कहानी का सिंहावलोकन करने में समर्थ हो सके।

श्रेष्ठ कहानियों की विशेषतायें

साधारणतया कोई भी कहानी निम्न मौलिक तत्त्वों के आधार पर उत्तम कही जा सकती है :—

१—शीर्षक उत्सुकतापूर्ण तथा रहस्यात्मक।

२—भाषा सरल तथा सरस।

३—मानव जीवन के तत्त्वों तथा अन्तर्द्वन्दों का चित्रण होना चाहिए।

४—घटनायें अत्यन्त विस्तृत न हों और मुख्य घटनाओं की सहायिका के ही रूप में हों।

५—वर्णन-विस्तार अधिक नहीं होना चाहिए।

६—कहानी का तत्व स्वतः कहानी के द्वारा स्पष्ट होना चाहिए।

७—निरन्तर औत्सुक्य की वृद्धि होनी चाहिए।

८—चर्माह्लाद का चित्रण प्रभावोत्पादक होना चाहिए।

९—घटनाओं की अपेक्षा जीवन के सत्य तत्वों की प्रधानता होनी चाहिये।

१०—संवाद अत्यन्त छोटे और मुहावरे युक्त होने चाहिए।

११—कथा-नायक का चरित्र अत्यन्त सुन्दर तथा यथार्थता को लेकर करना चाहिए।

ये मौलिक बातें हैं। इन्ही के आधार पर हम कहानी की उत्तमताका निर्णय कर सकते हैं।

प्रस्तुत संग्रह में कहानियों का चयन विद्यार्थियों की रुचि तथा उनके चरित्र-विकास को दृष्टि में रखकर किया गया है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी में ये ही उत्तम कहानियाँ हैं परन्तु जिनके लिए यह संग्रह प्रस्तुत किया गया है, उनके लिए यह उत्तम तथा सुरुचिपूर्ण अवश्य होगा। हास्यरसात्मक कहानियों का भी इसमें संकलन है। श्री प्रेमचन्दजी की दो कहानियाँ उनके वैशिष्ट्य के कारण ही निर्वाचित की गई हैं।

इस कहानी-संग्रह में जिन लेखकों ने उदारतापूर्वक अपनी कहानियों को प्रकाशित करने की अनुमति दे दी है, उनके प्रति सम्पादक अत्यन्त कृतज्ञ है।

—सम्पादक

कथा-कुमुदावली

१

कानों में कंगना

श्री राजा राधिकारमणप्रसाद् सिंह्

[हिन्दी में कथा साहित्य के प्रारम्भिक युग में आपने कथा लिखना आरम्भ किया। जिस समय श्रीयुत जयशंकर प्रसाद तथा किशोरीलाल गोस्वामी आदि व्यक्तियों ने कथा लिखना आरम्भ किया था उसी समय आपने भो 'कानों में कंगना' तथा 'बिजली' नाम से प्रसिद्ध कहानियाँ लिखीं। पाठक इस कथा में तत्कालीन विशुद्ध हिन्दी का पुट उपलब्ध करेंगे—औपन्यासिक भाषा की छटा तथा वर्णन भी आपकी कहानियों में है। इस कथा द्वारा एक पतित वेश्या-प्रेमी का कैसा सुधार हुआ है इसे अङ्कित किया है। कथानक रोचक है और मनुष्यों को प्रायश्चित द्वारा पाप-निवृत्ति का स्मरण दिलाता है।]

१

"किरण! तुम्हारे कानों में क्या है?"

उसने कानों से अञ्चल-पट को हटा कर कहा—"कङ्गना"

सचमुच दो कङ्गन कानों को घेर कर बैठे थे!

"अरे कानों में कङ्गना?"

"हाँ—कहाँ तक पहनूँ?"

किरण अभी भोली थी। दुनिया में जिसे भोली कहते हैं, वैसी भोली नहीं; उसे वन के फूलों का भोलापन समझो। नवीन उद्यान के फूलों की भङ्गी नहीं;—विविध खाद या रस से जिनकी जीविका है, निरन्तर काट-छाँट से जिनका सौन्दर्य है, जो दो वड़ी चंचल, चिकने वाल की भूषा हैं, जो दो घड़ी तुम्हारे फूलदान के गौरव हैं, वैसे, वन के फूल, ऐसे नहीं। प्रकृति के हाथों से लगी है, मेघों की धारा वढ़ी है, चटुल दृष्टि उसे पाती नहीं, जगत्वायु उसे छूती नहीं। यह सरल, सुन्दर, सौरभमय जीवन है। जव जीवित रहे तव चारों तरफ अपने प्राण-धन से हरे-भरे रखे; जव समय आया तव अपनी माँ की गोद में झर पड़े।

आकाश स्वच्छ था—नील, उदार, सुन्दर। पत्ते चुप थे, शान्त थे। सन्ध्या हो चली थी। सुनहली किरणें सुन्दर पर्वत की चूड़ा से देख रही थीं। वह पतली किरण अपनी मृत्यु-शय्या से इस शून्य, निविड़ कानन में क्या ढूँढ़ रही थी—कौन कहे? किसे एक टक देखती थी—कौन जाने? अपनी लीला-भूमि को सस्नेह किरण चाहती थी? या हमारे वाद क्या हो रहा है, इसे चाहती थी? मैं क्या वता सकता हूँ। उस भङ्गी में आकांक्षा अवश्य थी। मैं तो खड़ा-खड़ा उन वड़ी-वड़ी आँखों की किरण लूटता था। आकाश में तारों को देखा या उन मनोहर आँखों को देखा, वात एक थी। हम दूर से तारों के सुन्दर, शून्य झिकमिक को वार-वार देखते हैं, लेकिन वह निःस्पन्द, निश्चेष्ट ज्योति सचमुच भावहीन है, या आप-ही-आप अपनी अन्तर-लहरी में मस्त है, इसे जानना आसान नहीं। हमारी ऐसी आँखें कहाँ कि, उनके सहारे उस निगूढ़ अन्तर में डूव कर थाह लें?

मैं रसाल की डाली थाम कर पास ही खड़ा था। वह चालों को हटाकर कंगना दिखाने की भंगी प्राणों में रह-रह कर उठती थी। जब माखन चुराने वाले ने गोपियों के सर के मटके को तोड़ कर उनके भीतरी किले को तोड़ डाला, या नूरजहाँ ने अंचल के कबूतर को उड़ाकर शाहंशाह के कठोर हृदय की धज्जियाँ उड़ा दीं; फिर वसन्त-वल्लभ रसाल-पल्लवों की छाया में बैठी, किसी अपरूप बालिका की सरल, स्निग्ध लीला एक मानव अन्तर पर क्यों न दौड़े? किरण इन आँखों के सामने प्रतिदिन आती ही जाती थी। कभी आम के टिकोरे से आँचल भर लाती, कभी मौलसरी के फूलों की माला बना लाती, किन्तु कभी भी ऐसी बाल-सुलभ लीला आँखों से होकर हृदय तक नहीं उतरी। आज क्या था? कौन शुभ या अशुभ क्षण था कि अचानक वह बनेली लता मन्दारमाला से भी कहीं मनोरम दीख पड़ी? कौन जानता था कि जाल से कुचल जाने में, हाथों के कंगन भूल कर कानों में पहनने में इतनी माधुरी थी, दो टके के कंगनों में ऐसी शक्ति है! गोपियों को कभी स्वप्न में भी न झलका था कि बाँस की बाँसुरी में घूँघट खोलकर नचा देने की शक्ति है।

मैंने चटपट उसके कानों से कंगन उतार लिया, फिर धीरे-धीरे उसकी उँगलियों पर चढ़ाने लगा। न जाने उस घड़ी कैसी खलबली थी, मुँह से अचानक निकल आया—'किरण! आज की यह घटना मुझे मरते दम तक न भूलेगी। यह, भीतर तक पैठ गई।"

उसकी बड़ी-बड़ी आँखें और भी बड़ी हो गईं। मुझे चोट-सी लगी। मैं तत्काल योगीश्वर की कुटी की ओर चल पड़ा। प्राण भी उसी समय नहीं चल पड़े, यही विस्मय था।

२

एक दिन था कि इस दुनियाँ में दुनियाँ से दूर रहकर भी लोग दूसरी दुनियाँ का सुख उठाते थे। हरिचन्दन के पल्लवों की छाया भूलोक पर कहाँ मिले किन्तु किसी समय हमारे यहाँ भी ऐसे वन थे जिनके वृक्षों की छाया में दो घड़ी घाम निवारने के लिए स्वर्ग से देवता तक उतर आते थे। जिस पंचवटी के अनन्त यौवन को देख कर राम की आँखें भी खिल उठी थीं, यहाँ के निवासियों ने अमरतरु के सुन्दर फूलों की माला नहीं चाही, मन्दाकिनी के छीटों की शीतलता नहीं ढूँढ़ी। वृन्दावन का सानी कहीं वन भी था? कल्पवृक्ष की छाया में शान्ति अवश्य है, लेकिन कदम की छाँह की शान्ति कहाँ मिल सकती?

हमारी तुम्हारी आँखों ने कभी नन्दोत्सव की लीला नहीं देखी, लेकिन इसी भूतल पर एक दिन ऐसा उत्सव हो चुका है, जिसको देख-देखकर प्रकृति रजनी छः महीने तक ठगी रही, शत-शत देवाङ्गनाओं ने पारिजात के फूलों की वर्षा से नन्दन-कानन को उजाड़ डाला।

समय ने सब कुछ पलट दिया। अब ऐसे वन नहीं, जहाँ कृष्ण गौलोक से उतर कर दो घड़ी वंशी टेर दें। ऐसी कुटीर नहीं जिनके दर्शन से रामचन्द्र का अन्तर भी प्रसन्न हो, ऐसे मुनीश नहीं जो धर्म-धुरन्धर को भी धर्म में शिक्षा दें।

यदि एक-दो भूले-भटके हैं भी, तब अभी तक उन पर दुनियाँ का पर्दा नहीं उठा—जगन्माया की माया नहीं लगी। लेकिन कब तक बचे रहेंगे? लोक अपने यहाँ अलौकिक बातें कब तक होने देगा?

हृषीकेश के पास एक सुन्दर वन है, सुन्दर नहीं अपरूप

सुन्दर है। वह प्रमद-वन के विलास-निकुञ्जों से सुन्दर नहीं, वरंच चित्रकूट या पञ्चवटी की महिमा से मण्डित है। वहाँ चाँदनी में बैठकर कनकघुंगरू की इच्छा नहीं होती, पञ्च प्राणों में ऐसी आवेग-धारा उठती है, जो कभी अनन्त साधना के कूल पर पहुँचती है, तो कभी जीव जगत् के एक-एक तत्त्व से दौड़ मिलाती है। गङ्गा की अनन्त गरिमा, वन की निविड़ योग निद्रा नहीं देख पड़ेगी। कौन कहे वहाँ जाकर यह चंचल चित्त क्या चाहता है, गम्भीर अलौकिक आनन्द, या शान्त सुन्दर मरण। #

इसी वन में एक कुटी बनाकर योगीश्वर रहते थे। योगीश्वर योगीश्वर ही थे।

यद्यपि वह भूतल पर ही रहते थे, तथापि उन्हें इस लोक का जीव कहना यथार्थ नहीं था। उनकी चित्त-वृत्ति सरस्वती के श्रीचरणों में थी या ब्रह्म-लोक की अनन्त शान्ति में लिपटी थी, और वह बालिका स्वर्ग से एक किरण उतर कर घने जंगल में उजेला करती फिरती थी। वह लौकिक-माया-बद्ध जीवन नहीं था उसे बन्धन-रहित, बाधाहीन नाचती किरणों की रेखा कहिए। मानो मत्त, चंचल मलय-वायु फूल-फूल पर, डाली-डाली पर डोलती-फिरती हो, या कोई मूर्त्तिमती अमर संगीत में बेरोक-टोक हवा पर या जल के तरंग-भंग पर नाच रही है। मैं ही वहाँ इस लोक का प्रतिनिधि था, मैं ही उन्हें उनकी अलौकिक स्थिति से इस जटिल मर्त्यराज में खैंच लाता था।

कोई साल भर से मैं योगीश्वर के यहाँ आना-जाता था। पिता की रुचि थी कि उनके यहाँ जाकर अपने धर्म के ग्रन्थ सब पढ़ डालो। योगीश्वर और बाबा लड़कपन के साथी थे

इसलिए उनकी मुझ पर इतनी दया थी। किरण उनकी लड़की थी, उस कुटीर में एक वही दीपक थी। जिस दिन की घटना मैं लिख आया हूँ उसी दिन सवेरे मेरे अध्ययन की पूर्णाहुति थी, और मैं बाबा के कहने पर एक जोड़ा पीताम्बर, पाँच स्वर्ण मुद्रा तथा किरण के लिये दो कनक-कङ्कन आचार्य्य के निकट ले गया था। योगीश्वर ने सब लौटा दिया केवल कङ्कन को किरण उठाकर ले गई। वे नहीं मालूम क्या समझ कर चुप रह गये। समय का अद्भुत चक्र है! जिस दिन मैंने धर्म-ग्रन्थ से मुँह मोड़ा उसी दिन कामदेव के यहाँ जाकर उनकी किताब का पहला पन्ना उलटा।

दूसरे दिन मैं योगीश्वर से मिलने गया। वह किरण को पास बिठाकर न जाने क्या-क्या पढ़ा रहे थे। उनकी आँखें गम्भीर थीं। मुझको देखते ही वह उठ खड़े हुए और मेरे कन्धे पर हाथ रखकर गद्गद् स्वर से बोले—"नरेन्द्र। अब मैं चला, किरण तुम्हारे हवाले है।" यह कहकर उन्होंने उसकी सुकोमल अँगुलियों को मेरे हाथ में रख दिया। लोचनों के कोनों पर दो बूँदें निकलकर झाँक पड़ीं। मैं सहम उठा। क्या उन पर सब बातें विदित थीं! क्या उनकी तीव्र दृष्टि मेरी अन्तर्लहरी तक डूब चुकी थी? वे ठहरे नहीं, चल दिये। मैं काँपता रह गया। किरण देखती रह गई।

वन-वायु भी अवाक हो गई। हम दोनों चल पड़े। किरण मेरे कन्धे पर हाथ रक्खे थी हठात् अन्तर से कोई कड़क कर कह उठा—"हाय नरेन्द्र, यह क्या? तुम इस वन-फूल को किस उद्यान में ले चले? इस वन्धन-विहीन स्वर्गीय जीवन को किस लोक-जाल से बाँधने ले चले?

३

भी कङ्कड़ी जल में जाकर कोई स्थायी विवर नहीं फोड़ सकती। क्षण भर जल का समतल भले ही उलट-पुलट हो लेकिन इधर-उधर से जल-तरंग दौड़कर किसी छिद्र का चिन्ह-मात्र भी नहीं रहने देते। जगत् की भी यही चाल है। यदि स्वर्ग से देवेन्द्र भी भागकर इस लोक-चला-चल से खड़े हों फिर संसार देखते-ही देखते उन्हें अपना बना लेगा। इस काली कोठरी में आकर इसकी कालिमा से बचा रहे ऐसी शक्ति अब आकाश-कुसुम ही समझो। दो दिन में राम 'हाय जानकी' कहकर वन-वन भटकते फिरे। दो क्षण में वही विश्वामित्र को स्वर्ग से घसीट लाया।

किरण की यही अवस्था हुई। कहाँ प्रकृति की निर्मुक्त गोद कहाँ जगत् का जटिल बन्धन-पाश ?—कहाँ-से-कहाँ आ पड़ी। वह अलौकिक भोलापन, वह निःसर्ग उच्चावास, हाथों-हाथ लुट गये। उसे वन की मायावी मनोहारिता में परिणति हुई। अब आँखें उठाकर आकाश से नीरव बात-चीत करने का अवसर कहाँ से मिला। मलय-वायु से मिलकर मलयाचल के फूलों की पूछ-ताछ क्यों कर हो ?

जब किरण नये साँचे में ढल कर उतरी, उसे पहचानना भी कठिन था। अब वह लाल, पीली, हरी साड़ी पहनकर सर पर सिन्दूर-रेखा सजती और हाथों में कङ्गन, कानों में बाली, गले में कंठी तथा कमर में करधनी दिन-दिन उसके चित्त को नचाये मारती थीं। जब कभी वह सज-धजकर चाँदनी में कोठे पर जाती और वसन्त-वायु उसके आँचल से मोतियों की लपट लाकर मेरे बरामदे में भर देती उस समय किसी मतवाली माधुरी या तीव्र मदिरा के नशे से मेरा

मस्तिष्क घूम जाता और मैं चटपट अपना प्रेम-चीत्कार फूलदार रंगीन चिट्ठी में भरकर जूही के हाथ ऊपर भिजवाता, या बाजार से दौड़कर कटकी गहने या विलायती चूर्ण खरीद लाता। लेकिन जो हो अब भी कभी-कभी उसके प्रफुल्ल वदन पर उस आलोक की छटा पूर्व जन्म की सुख-स्मृतिवत् चली आती थी और आँखें उसी जीवन्त सुन्दर झिकमिक का नाच दिखाती थीं। जब 'अन्तर प्रसन्न था तब बाहरी चेष्टा पर प्रतिविम्ब क्यों न पड़े।

यों ही साल दो साल मुरादाबाद में कट गये। एक दिन मोहन के यहाँ नाच देखने गया। वहीं किन्नरी से आँख मिली, मिली क्या, लीन हो गई। नवीन यौवन, कोकिल-कण्ठ, चतुर-चञ्चल चेष्टा तथा मायावी चकमक—अब चित्त को चलाने के लिए और क्या चाहिए। किन्नरी सचमुच किन्नरी ही थी। नाचने वाली नहीं नचाने वाली थी। पहली बार देखकर उसे इस लोक की सुन्दरी समझना दुस्तर था—एक लपट-सी लगती—कोई नशा-सा चढ़ जाता। यारों ने मुझे और भी बढ़ावा दिया। आँखें मिलती-मिलती मिल गईं। हृदय को भी साथ-साथ घसीट ले गईं।

फिर क्या था—इतने दिनों की धर्म-शिक्षा शत वत्सर की पूज्या लक्ष्मी, बाप-दादों की कुलप्रतिष्ठा, पत्नी से पवित्र प्रेम—एक-एक करके ये सब उस प्रदीप्त वासना-कुण्ड में भस्म होने लगे। अग्नि और भी बढ़ती गई। किन्नरी की चिकनी दृष्टि, चिकनी बातें घी बरसाती रहीं। घर-बार सब जल उठा। मैं भी निरन्तर जलने लगा; लेकिन ज्यों-ज्यों जलता गया, जलने की इच्छा जलाती रही।

पाँच महीने कट गये। नशा उतरा नहीं। बनारसी साड़ी

पारसी जैकेट, मोती का हार, कटकी काम—सब कुछ लाकर उस मायाकारी के अलक-रंजित चरणों पर रक्खा। और किरण? हेमन्त मालती बनी थी जिसके घर पर फूल नहीं—एक पल्लव नहीं।

घर की वधू क्या करती? जो अनन्त सूत्र से बँधा था, वही हाथों-हाथ पराये के हाथ बिक गया। किन्तु ये तो दोनों चकमकी खिलौने थे, इन्हें शरीर बदलते क्या देर लगे? दिन-भर वहाना की माला गूँथ-गूँथकर किरण के गले में और रात्रि को मोती की माला उस नाचने वाली या नचाने वाली के गले में सशङ्क निर्लज्ज डाल देता। यही मेरा कर्त्तव्य धर्म, नियम हो उठा। एक दिन सारी बातें खुल गईं। किरण, पछाड़ खाकर जमीन पर जा पड़ी। उसकी आँखों में आँसू न थे, मेरी आँखों में दया न थी।

४

बरसात की रात थी। रिमझिम-रिमझिम बूँदों की झड़ी लगी हुई थी। चाँदनी मेघों से आँख-मुदौअल खेल रही थी। बिजली लोल कपाट से बार-बार झाँकती थी। वह किसे चञ्चल देखती थी और बादल किस मसोस से रह-रहकर चिल्लाते थे, इन्हें सोचने का मुझे अवसर ही न था। मैं तो किन्नरी के दरवाजे से हताश लौटा था, आँखों के ऊपर न चाँदनी थी, न बदली। त्रिशंकु ने स्वर्ग जाते-जाते बीच ही में टँगकर किस दुःख को उठाया और मैं तो अपने स्वर्ग के दरवाजे पर सर रखकर निराश लौटा था, मेरी वेदना क्यों न बड़ी हो? हाय! एक अँगूठी भी रहती तो उसे दिखाकर उसके चरणों से चन्दन चाटता।

घर पर आते ही जूही को पुकार उठा—"जूही ! जूही !! किरण के पास कुछ भी बचा-बचाया हो, तो फौरन जाकर माँग लाओ।" ऊपर से कोई आवाज नहीं आई, केवल सर के ऊपर से एक काला बादल, कालान्त चीत्कार से चिल्ला उठा। मेरा मस्तिष्क घूम गया। मैं तत्क्षण कोठे पर दौड़ा।

बस सन्दूक-झाँपे, जो कुछ मिला सब तोड़ डाला; लेकिन मिला कुछ भी नहीं। आलमारी में केवल मकड़े का जाला था। शृङ्गारबक्स में एक छिपकली बैठी थी। उसी दम किरण पर झपटा।

पास जाते ही सहम गया। वह एक तकिये के सहारे निःसहाय, निस्पन्द लेटी हुई थी। चाँदनी ने, खिड़की से आकर उसे गोद में ले रक्खा था। और वायु उस शान्त शरीर पर जल भिगोया पंखा झल रही थी। मुख पर एक अपरूप छटा थी। कौन कहे, कहीं जीवन की शेष रश्मि क्षण-भर वहीं अटकी हो। आँखों में एक नवीन ज्योति थी। शायद प्राण शरीर से निकल कर किसी आसरे से वहीं बैठ रहा था। मैं पुकार उठा—"किरण, तुम्हारे पास कोई और गहना भी बच गया है ?"

"हाँ"—क्षीण कण्ठ की काकली थी।

"कहाँ है—अभी देखने दो।"

उसने धीरे-से घूँघट सरकाकर कहा—"वही कानों का कङ्गना।"

सर तकिये से ढल पड़ा। आँखें भी छिप गईं। वह जीवन्त रेखा कहाँ रह गई। क्या इतने ही के लिये अब तक ठहरी थी ?

नानी से अपना निकट सम्बन्ध स्थिर करते हैं, कभी राह चलते पैदलों की आँखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अँगुलियों के पोरों को चींथकर अपने ही को सताया हुआ बताते हैं, और संसार भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने, नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरी वाले तङ्ग चक्करदार गलियों में हर एक लड्ढी वाले के लिए ठहर कर सब्र का समुद्र उमड़ा कर "बचो खालसाजी!' 'हटो भाईजी!' 'ठहरना भाई!' 'आने दो लालाजी!' हटो बाछा!"* कहते हुए सफेद फंटों, खच्चरों और बत्तकों, गन्ने और खोमचे और भारे वालों के जंगल में से राह खेते हैं। क्या मजाल है, कि 'जी' और 'साहब' बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं; चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती हुई। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चितौनी देने पर भी लीक से नहीं हटती, तो उनकी वचनावली के ये नमूने हैं—हट जा जीणे जोगिए; हट जा करमा वालिए; हट जा पुत्ताँ प्यारिए; बच जा लम्बी वालिए। समष्टि में इनके अर्थ हैं, कि तू जीने योग्य है, तू भाग्यों वाली है, पुत्रों को प्यारी है, लम्बी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहिये के नीचे आना चाहती है?—बच जा।

ऐसे बम्बूकार्टवालों के बीच में होकर एक लड़का और लड़की चौक की एक दूकान पर आ मिले। उसके बालों और इसके ढीले सुथने से जान पड़ता था, कि दोनों सिक्ख हैं। वह अपने मामा के केश धोने के लिये दही लेने आया था, और यह रसोई के लिये बड़ियाँ। दूकानदार एक परदेशी

* बादशाह।

से गुथ रहा था; जो सेर-भर गीले पापड़ों की गड्डी को बिना गिने हटता न था।

"तेरे घर कहाँ हैं?"

"मगरे में;—और तेरे?"

"माँझे में;—यहाँ कहाँ रहती है?"

"अतरसिंह की वैठक में; वे मेरे मामा होते हैं।"

"मैं भी मामा के यहाँ आया हूँ, उनका घर गुरु बाजार में है।"

इतने में दूकानदार निबटा, और इनका सौदा देने लगा। सौदा लेकर दोनों साथ-साथ चले। कुछ दूर जाकर लड़के ने मुसकराकर पूछा—"तेरी कुड़माई[1] हो गई?"

इस पर लड़की कुछ आँखें चढ़ाकर 'धत्' कहकर दौड़ गई, और लड़का मुँह देखता रह गया।

दूसरे-तीसरे दिन सब्जी वाले के यहाँ, दूध वाले के यहाँ अकस्मात दोनों मिल जाते। महीना-भर यही हाल रहा। दो-तीन बार लड़के ने फिर पूछा,—'तेरी कुड़माई हो गई?" और उत्तर में वही 'धत्' मिला। एक दिन जब फिर लड़के ने वैसे ही हँसी में चिढ़ाने के लिए पूछा तो लड़की, लड़के की सम्भावना के विरुद्ध बोली—"हाँ हो गई।"

"कब?"

"कल; देखते नहीं, यह रेशम का कढ़ा हुआ "सालू[2]।"

लड़की भाग गई। लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया। एक छावड़ी वाले की दिन-भर की कमाई खोई, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक

१ मँगनी २ ओढ़नी।

गोभी वाले के ठेले में दूध उड़ेल दिया। सामने से नहाकर आती हुई, किसी वैष्णवी से टकराकर अन्धे की उपाधि पाई; तब कहीं घर पहुँचा।

२

"राम-राम, यह भी कोई लड़ाई है। दिन-रात खन्दकों में बैठे हड्डियाँ अकड़ गईं। लुधियाना से दस-गुना जाड़ा और मेह, और बरफ ऊपर से। पिंडलियों तक कीचड़ में धँसे हुए हैं। गनीम कहीं दीखता नहीं!—घन्टे-दो-घन्टे में कान के परदे फाड़ने वाले धमाके के साथ सारी खन्दक हिल जाती है और सौ-सौ गज धरती उछल जाती है। इस बी गोले से बचे तो कोई लड़े। नगर कोट का जलजला सुना था, यहाँ दिन में पचीस जलजले होते हैं। जो कहीं खन्दक से बाहर साफा या कुहनी निकल गई, तो चटाक से गोली लगती है। न मालूम बेईमान मिट्टी में लेटे हुए हैं या घास की पत्तियों में छिपे रहते हैं।"

"लहनासिंह, और तीन दिन हैं। चार तो खन्दक में बिता ही दिये। परसों 'रिलीफ' आ जायगी, और फिर सात दिन की छुट्टी। अपने हाथों झटका[1] करेंगे और पेट-भर खाकर सो रहेंगे। उसी फरंगी[2] मेम के बाग में—मखमल का-सा हरा घास है। फल और दूध की वर्षा कर देती है। लाख कहते हैं, दाम नहीं लेती है, कहती है तुम राजा हो, मेरे मुल्क को बचाने आये हो।"

"चार दिन तक पलक नहीं झपी। बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही। मुझे तो संगीन चढ़ाकर

---

१ बकरा मारना। २ फ्रेंच।

मोर्चे का हुक्म मिल जाय। फिर सात जरमनों को अकेला मारकर न लौटूँ तो मुझे दरबार साहब की देहली पर मत्था टेकना नसीब न हो। पाजी कहीं के, कलों के घोड़े—संगीन देखते ही मुँह फाड़ देते हैं और पैर पकड़ने लगते हैं। हाँ, अँधेरे में तीस-तीस मन का गोला फेंकते हैं। उस दिन धावा किया था—चार मील तक एक जर्मन नहीं छोड़ा था। पीछे जनरल साहब ने हट आने का कमान दिया, नहीं तो......"

"नहीं तो सीधे बर्लिन पहुँच जाते। क्यों?" सूबेदार हजारासिंह ने मुस्कराकर कहा—"लड़ाई के मामले जमादार या नायक के चलाये नहीं चलते। बड़े अफसर दूर की सोचते हैं। तीन सौ मील का सामना है। एक तरफ बढ़ गये तो क्या होगा?"

"सूबेदारजी, सच है", लहनासिंह बोला—"पर करें क्या! हड्डियों में तो जाड़ा धँस गया है। सूर्य निकलता नहीं, और खाई में दोनों तरफ से चम्बे की बावलियों के से सोते झर रहे हैं। एक धावा हो जाय, तो गरमी आ जाय।"

"उदमी[1], उठ, सिगड़ी में कोले डाल। वजीरा, तुम चार जने बाल्टियाँ लेकर खाई का पानी बाहर फेंको। महासिंह, शाम हो गई है, खाई के दरवाजे का पहरा बदला दे।"—यह कहते हुए सूबेदार सारी खन्दक में चक्कर लगाने लगे।

वजीरासिंह पल्टन का विदूषक था। बाल्टी में गँदला पानी भर कर खाई के बाहर फेंकता हुआ बोला—"मैं पाधा बन गया हूँ। करो जर्मनी के बादशाह का तर्पण?" इस पर सब खिलखिला पड़े, और उदासी के बादल कट गये।

---

१ उद्यम।

लहनासिंह ने दूसरी बाल्टी भरकर उसके हाथ में देकर कहा—"अपनी बाड़ी के खरबूजों में पानी दो। ऐसा खाद का पानी पंजाब भर में नहीं मिलेगा।"

"हाँ देश क्या है, स्वर्ग है। मैं तो लड़ाई के बाद सरकार से दस घुमा[1] जमीन यहाँ माँग लूँगा, और फलों के बूटे[2] लगाऊँगा।"

"लाड़ी होराँ[3] को भी यहाँ बुला लोगे या वही दूध पिलाने वाली। फरंगी मेम—"

"चुपकर। यहाँ वालों को शरम नहीं।"

"देश-देश की चाल है। आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख तम्बाकू नहीं पीते। वह सिगरेट देने में हठ करती है, ओठों में लगाना चाहती है; और मैं पीछे हटता हूँ, तो समझती है, कि राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुल्क के लिए लड़ेगा नहीं।

"अच्छा, अब बोधासिंह कैसा है?"

"जैसे मैं जानता ही न होऊँ! रात भर तुम अपने कंबल उसे उढ़ाते हो और आप सिगड़ी के सहारे गुजर करते हो। उसके पहरे पर आप पहरा दे आते हो। अपने सूखे लकड़ी के तख्तों पर उसे सुलाते हो, आप कीचड़ में पड़े रहते हो। कहीं तुम न माँदे पड़ जाना। जाड़ा क्या है, मौत है, और 'निमोनिया' से मरने वालों को मुरब्बे[4] नहीं मिला करते।"

"मेरा डर मत करो। मैं तो बुलेल की खड्ड के किनारे मरूँगा। भाई कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और

---

१ जमीन की माप। २ पेड़। ३ स्त्री होराँ=आदरवाचक। ४ नई नहरों के पास वर्ग-भूमि।

मेरे हाथ के लगाए हुए आँगन के आम के पेड़ की छाया होगी।"

वजीरासिंह ने त्यौरी चढ़ाकर कहा—"क्या मरने-मरने की बात लगाई है ? मरें जर्मनी और तुरक !"

दो पहर रात गई है। अँधेरा है सन्नाटा छाया हुआ है। बोधासिंह खाली बिस्कुटों के तीन टीनों पर अपने दोनों कम्बल बिछाकर और लहनासिंह के दो कम्बल और बरानकोट[1] ओढ़कर सो रहा है। लहनासिंह पहरे पर खड़ा हुआ है। एक आँख खाई के मुँह पर है और एक बोधासिंह के दुबले शरीर पर। बोधासिंह कराहा।

"क्यों बोधा भाई, क्या है ?"

"पानी पिलादो।"

लहनासिंह ने कटोरा उसके मुँह से लगाकर पूछा—"कहो कैसे हो ?" पानी पीकर बोधा बोला—"कँपनी[2] छुट रही है। रोम-रोम में तार दौड़ रहे हैं। दाँत बज रहे हैं।"

"अच्छा मेरी जरसी पहन लो ?"

"और तुम ?"

"मेरे पास सिगड़ी है और मुझे गर्मी लगती है, पसीना आ रहा है ?"

"ना मैं नहीं पहनता, चार दिन से मेरे लिए—"

"हाँ, याद आई। मेरे पास दूसरी गरम जरसी है। आज सबेरे ही आई है। विलायत से मेंमें बुन-बुन कर भेज रही हैं। गुरु उनका भला करें।" यों कहकर लहना अपना कोट उतार कर जरसी उतारने लगा।

"सच कहते हो ?"

---

१ ओवरकोट। २ कँपकपी।

"और नहीं झूठ ?" यों कहकर नाहीं करते बोधा को
सने जबूरदस्ती जरसी पहना दी और आप खाकी कोट और
ीन का कुरता भर पहन कर पहरे पर खड़ा हुआ। मेम की
रसी की कथा केवल कथा थी।

आधा घण्टा बीता। इतने में खाई के मुँह से आवाज
ाई,—"सूबेदार हजारासिंह।"

"कौन लपटन साहब ? हुकुम हुजूर"—कहकर सूबेदार
न कर फौजी सलाम करके सामने हुआ।

"देखो, इसी समय धावा करना होगा। मील भर की दूरी
र पूरब के कोने में एक जर्मन खाई है। उसमें पचास से
यादा जर्मन नहीं हैं। इन पेड़ों के नीचे-नीचे दो खेत काट
र रास्ता है। तीन-चार घुमाव हैं। जहाँ मोड़ है वहाँ पन्द्रह
वान खड़े कर आया हूँ। तुम यहाँ दस आदमी छोड़कर
बको साथ ले उनसे जा मिलो। खन्दक छीन कर वहीं, जब
क दूसरा हुक्म न मिले डटे रहो। हम यहाँ रहेगा।"

"जो हुक्म।"

चुपचाप सब तैयार हो गये। बोधा भी कम्बल उतार कर
लने लगा। तब लहनासिंह ने उसे रोका। लहनासिंह आगे
ुआ तो बोधा के बाप सूबेदार ने उँगली से बोधा की ओर
शारा किया। लहनासिंह समझ कर चुप हो गया। पीछे
स आदमी कौन रहें, इस पर बड़ी हुज्जत हुई। कोई रहना
चाहता था। समझा-बुझाकर सूबेदार ने मार्च किया।
पटन साहब लहना की सिगड़ी के पास मुँह फेर कर खड़े
ो गये और जेब से सिगरेट निकाल कर सुलगाने लगे।
स मिनट बाद उन्होंने लहना की तरफ हाथ बढ़ा कर
हा—"लो तुम भी पियो।"

आँख मारते-मारते लहनासिंह सब समझ गया। मुँ
का भाव छिपाकर बोला—"लाओ साहब।" हाथ आगे क
ही उसने सिगड़ी के उजाले में साहब का मुँह देखा, व
देखे; तब उसका माथा ठनका। लपटन साहब के प
वाले बाल एक दिन में कहाँ उड़ गये और उनकी जगह कैदि
से कटे हुए बाल कहाँ से आ गये ?

शायद साहब शराब पिये हुये हैं और उन्हें बाल कटव
का मौका मिल गया है। लहनासिंह ने जाँचना चाह
लपटन साहब पाँच वर्ष से उसकी रेजिमेंट में थे।

"क्यों साहब हम लोग हिन्दुस्तान कब जायँगे ?"

"लड़ाई खत्म होने पर। क्यों क्या यह देश पसन्द नहीं
नहीं साहब, शिकार के वे मजे यहाँ कहाँ हैं ? याद
पारसाल नकली लड़ाई के पीछे हम-आप जगाधरी जिले
शिकार करने गये थे—'हाँ, हाँ'—वही जब आप खोते
सवार थे और आपका खानसामा अवदुल्ला रास्ते के
मन्दिर में जल चढ़ाने को रह गया था ? "बेशक पाजी क
का"—सामने से वह नीलगाय निकली कि ऐसी बड़ी
कभी न देखी थी। और आपकी एक गोली कन्धे में ल
और पुट्ठे में निकली। ऐसे अफसर के साथ शिकार खेलने
मजा है ? क्यों साहब शिमले से तैयार होकर उस नीलग
का सिर आ गया था न ? आपको कहा था कि रजमेंट
मैस में लगायेंगे। 'हाँ, पर मैंने वह विलायत भेज दिया'
ऐसे बड़े-बड़े सींग ! दो-दो फुट के तो होंगे ?"

"हाँ लहनासिंह, दो फुट चार इंच के थे। तुमने सिग
नहीं पिया ?"

१ गधे।

"पीता हूँ साहब, दियासलाई ले आता हूँ"—कहकर लहनासिंह खन्दक में घुसा। अब उसे सन्देह नहीं रहा था। उसने झटपट निश्चय कर लिया कि क्या करना चाहिए।

अँधेरे में किसी सोने वाले से वह टकराया।

"कौन ? वज़ीरासिंह ?"

"हाँ, क्यों लहना ? क्या कयामत आ गई ? जरा तो आँख लगने दी होती ?"

२

"होश में आओ कयामत आई और लपटन साहब की वर्दी पहनकर आई है।"

"क्या ?"

"लपटन साहब या तो मारे गये हैं या क़ैद हो गये हैं। उनकी वर्दी पहनकर यह कोई जर्मन आया है। सूबेदार ने इसका मुँह नहीं देखा। मैंने देखा और बातें की हैं। सोहरा[1] साफ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू और मुझे पीने को सिगरेट दिया है ?"

"तो अब ?"

"अब मारे गये। धोखा है। सूबेदार होराँ कीचड़ में चक्कर काटते फिरेंगे और यहाँ खाई पर धावा होगा। उधर उन पर खुले में धावा होगा। उठो, एक काम करो। पल्टन के पैरों के निशान देखते-देखते दौड़ जाओ। अभी बहुत दूर न गये होंगे। सूबेदार से कहो कि एक दम लौट आवें। खन्दक की बात झूठ है। चले जाओ खन्दक के पीछे से निकल जाओ। पत्ता तक न खड़के। देर मत करो।"

१—सुसरा (गाली)

"हुकुम तो यह है कि यहीं...."

"ऐसी-तैसी हुकुम की ! मेरा हुकुम—जमादार लहना
जो इस वक्त यहाँ सबसे बड़ा अफसर है, उसका हुकुम
मैं लपटन की खबर लेता हूँ।"

"पर यहाँ तो तुम आठ ही हो।"

"आठ नहीं, दस लाख। एक-एक अकालिया सिख
लाख के बराबर होता है। चले जाओ।"

लौटकर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चि
गया। उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से बेल के
बर तीन गोले निकाले। तीनों को जगह-जगह खन्दक
दीवारों में घुसेड़ दिया और तनों में एक तार-सा बाँध दि
तार के आगे सूत की एक गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के
रखा। बाहर की तरफ जाकर एक दियासलाई जला
गुत्थी पर रखने—

बिजली की तरह दोनों हाथों से उल्टी बन्दूक उठा
लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तान कर दे मारी
धमाके के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़
लहनासिंह ने एक कुन्दा साहब की गर्दन पर और सा
'आँख ![1] मीनगौट्ट, कहते हुए चित्त हो गए। लहनासिंह
तीनों गोले बीन कर खन्दक के बाहर फेंके और साहब
घसीट सिगड़ी के पास लिटाया। जेबों की तलाशी ली। ती
चार लिफाफे और एक डायरी निकाल कर उन्हें अपनी
के हवाले किया।

साहब की मूर्छा हटी। लहनासिंह हँसकर बोला

---

१ हाय मेरे राम (जर्मन)

"क्यों लपटन साहब ? मिज़ाज कैसा है ? आज मैंने बहुत बातें सीखीं। यह सीखा कि सिख सिगरेट पीते हैं। यह सीखा कि जगाधरी के जिले में नीलगायें होती हैं और उनके दो फुट चार इञ्च के सींग होते हैं। यह सीखा कि मुसलमान खानसामा मूर्तियों पर जल चढ़ाते हैं और लपटन साहब खोते पर चढ़ते हैं। पर यह तो कहो, ऐसी साफ उर्दू कहाँ से सीख आये ? हमारे लपटन साहब तो बिना 'डैम' के पाँच लफ्ज भी नहीं बोला करते थे।"

लहना ने पतलून के जेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने, मानो जाड़े से बचाने के लिये, दोनों हाथ जेबों में डाले।

लहनासिंह कहता गया—"चालाक तो बड़े हो पर माँझे का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है उसे चकमा देने के लिए चार आँखें चाहिए। तीन महीने हुए एक तुरकी मौलवी मेरे गाँव में आया था, औरतों को बच्चे होने के तावीज बाँटता था और बच्चों को दवाई देता था। चौधरी के बड़ के नीचे मंझा[1] बिछाकर हुक्का पीता रहता था और कहता था जर्मनी वाले बड़े पण्डित हैं। वेद पढ़-पढ़कर उसमें से विमान चलाने की विद्या जान गये हैं। गौ को नहीं मारते। हिन्दुस्तान में आ जायेंगे तो गौहत्या बन्द कर देंगे। मण्डी के बनियों को बहकाता था कि डाकखाने से रुपया निकाल लो; सरकार का राज्य जाने वाला है। डाक-बाबू पोल्हूराम भी डर गया था। मैंने मुल्लाजी की दाढ़ी मूड़ दी थी और गाँव से बाहर निकल कर कहा था कि जो मेरे गाँव में अब पैर रक्खा तो—"

१ खटिया।

साहब की जेब से पिस्तौल चला और लहना की जाँघ में गोली लगी। इधर लहना की हैनरी मार्टिनी के दो फायरों ने साहब की कपाल-क्रिया कर दी। धड़ाका सुनकर सब दौड़ आये।

बोधा चिल्लाया—"क्या है ?"

लहनासिंह ने उसे यह कह कर सुला दिया कि एक हड़का हुआ कुत्ता आया था, मार दिया और औरों से सब हाल कह दिया। सब बन्दूकें लेकर तैयार हो गये। लहना ने साफा फाड़ कर घाव के दोनों तरफ पट्टियाँ कस कर बाँधी। घाव माँस में ही था! पट्टियों से कसने से लहू निकलना बन्द हो गया।

इतने ही में सत्तर जर्मन चिल्लाकर खाई में घुस पड़े। सिक्खों की बन्दूकों की बाड़ ने पहले धावे को रोका; दूसरे को रोका। पर यहाँ थे आठ (लहनासिंह तक-तक कर मार रहा था—वह खड़ा था, और, और लेटे हुए थे) और वे सत्तर। अपने मुर्दा भाइयों के शरीर पर चढ़कर जर्मन आगे घुस आते थे। थोड़े से मिनटों में वे—

अचानक आवाज आई 'वाह गुरुजी की फतह ? वाह गुरुजी का खालसा!!' और धड़ाधड़ बन्दूकों के फायर जर्मनों की पीठ पर होने लगे। ऐसे मौके पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच में आ गये। पीछे से सूबेदार हजारासिंह के जवान आग बरसाते थे और सामने लहनासिंह के साथियों के संगीन चल रहे थे। पास आने पर पीछे वालों ने भी संगीन पिरोना शुरू कर दिया।

एक किलकारी और—'अकालसिक्खाँ दी फौज आई

वाह गुरुजी दी फतह! वाह गुरुजी दा खालसा! सत श्री अकाल-पुरुख!!!' और लड़ाई खतम हो गई। तिरेसठ जर्मन या तो खेत रहे थे या कराह रहे थे। सिक्खों में पन्द्रह के प्राण गये। सूबेदार के दाहिने कन्धे में से गोली आर-पार निकल गई। लहनासिंह की पसली में एक गोली लगी। उसने घाव को खन्दक की गीली मिट्टी से पूर लिया और बाकी का साफा कसकर कमरबन्द की तरह लपेट लिया। किसी को खबर न हुई कि लहना को दूसरा घाव—भारी घाव लगा है।

लड़ाई के समय चाँद निकल आया था, ऐसा चाँद, जिसके प्रकाश से संस्कृत-कवियों का दिया हुआ 'क्षयी' नाम सार्थक होता है और हवा ऐसी चल रही थी जैसी बाणभट्ट की भाषा में 'दन्तवीणोपदेशाचार्य्य' कहलाती। वजीरासिंह कह रहा था कि कैसे मन-मन भर फ्रांस की भूमि मेरे बूटों से चिपक रही थी जब मैं दौड़ा-दौड़ा सूबेदार के पीछे गया था। सूबेदार लहनासिंह से सारा हाल सुन और कागजात पाकर वे उसकी तुरन्त बुद्धि को सराह रहे थे और कह रहे थे कि तू न होता तो सब मारे जाते।

इस लड़ाई की आवाज तीन मील दाहिनी ओर की खाई वालों ने सुन ली थी। उन्होंने पीछे टेलीफोन कर दिया था। वहाँ से झटपट दो डाक्टर और दो बीमार ढोने की गाड़ियाँ चलीं, जो कोई डेढ़ घण्टे के अन्दर-अन्दर आ पहुँचीं। फील्ड अस्पताल नजदीक था। सुबह होते-होते वहाँ पहुँच जायेंगे, इसीलिये मामूली पट्टी बाँधकर एक गाड़ी में घायल लिटाये गये और दूसरी में लाशें रक्खी गईं। सूबेदार ने लहनासिंह की जाँघ में पट्टी बँधवानी चाही पर उसने यह कहकर टाल दिया कि थोड़ा घाव है सवेरे देखा जायगा। बोधासिंह

ज्वर में वर्रा रहा था। वह गाड़ी में लिटाया गया। लहना को छोड़कर सूबेदार जाते नहीं थे। यह देख लहना ने कहा "तुम्हें बोधा की कसम है, और सूबेदारनी जी की सौगन्ध है जो इस गाड़ी में न चले जाओ।"

"और तुम ?"

"मेरे लिए वहाँ पहुँच कर गाड़ी भेज देना, और जर्मन मुरदों के लिए भी तो गाड़ियाँ आती होंगी। मेरा हाल बुरा नहीं है। देखते नहीं; मैं खड़ा हूँ ? वजीरासिंह मेरे पास है ही।"

"अच्छा, पर—"

"बोधा गाड़ी पर लेट गया ? भला, आप भी चढ़ जाओ। सुनिये तो, सूबेदारनी होराँ को चिट्ठी लिखो, तो मेरा मत्था टेकना लिख देना और जब घर जाओ, तो कह देना मुझसे जो 'उसने कहा था' वह मैंने कर दिया।"

गाड़ियाँ चल पड़ी थीं। सूबेदार ने चढ़ते-चढ़ते लहना का हाथ पकड़ कर कहा—"तैंने मेरे और बोधा के प्राण बचाये हैं। लिखना कैसा साथ ही घर चलेंगे। अपनी सूबेदारनी को तू ही कह देना। उसने क्या कहा था ?"

"अब आप गाड़ी पर चढ़ जाओ मैंने जो कहा, लिख देना, और कह भी देना।"

गाड़ी के जाते ही लहना लेट गया।—"वजीरा पानी पिला दे, और मेरा कमरबन्द खोल दे। तर हो गया है।"

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ हो जाती है। जन्म-भर की घटनायें एक-एक करके सामने आती हैं।

दृश्यों के रंग साफ होते हैं, समय की धुन्ध बिल्कुल उन पर से हट जाती है।

❀ ❀ ❀ ❀

लहनासिंह बारह वर्ष का है। अमृतसर में अपने मामा के यहाँ आया हुआ है। दही वाले के यहाँ, सब्जीवाले के यहाँ हर कहीं, उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है। जब वह पूछता है, तेरी कुड़माई हो गई? तब 'धत्' कहकर वह भाग जाती है। एक दिन उसने वैसे ही पूछा, तो उसने कहा—'हाँ, कल होगई, देखते नहीं यह रेशम के फूलों वाला सालू?' सुनते ही लहनासिंह को दुख हुआ। क्रोध हुआ।

"वजीरासिंह पानी पिला दे।"

❀ ❀ ❀ ❀

पच्चीस वर्ष बीत गये। अब लहनासिंह नं० ७७ रैफल्स में जमादार हो गया है। उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा। न मालूम वह कभी मिली थी या नहीं। सात दिन की छुट्टी लेकर जमीन के मुकदमे की पैरवी करने घर गया। वहाँ रेजिमेंट के अफसर की चिट्ठी मिली कि फौज लाम पर जाती है, फौरन चले आओ साथ ही सूबेदार हजारासिंह की चिट्ठी मिली कि मैं और बोधासिंह भी लाम पर जाते हैं। लौटते हुए हमारे घर होते जाना, साथ ही चलेंगे। सूबेदार का गाँव रास्ते में पड़ता था और सूबेदार उसे बहुत चाहता था। लहनासिंह सूबेदार के यहाँ पहुँचा।

जब चलने लगे, तब सूबेदार बेड़े[1] में से निकल कर आया और बोला—'लहना, सूबेदारनी तुमको जानती हैं,

---

१ जनाने।

बुलाती हैं। जा मिल आ।' लहनासिंह भीतर पहुँचा। सूबेदारनी मुझे जानती हैं? कब से? रेजिमेंट के क्वार्टरों में भी कभी सूबेदार के घर के लोग रहे नहीं। दरवाजे पर जाकर 'मत्था टेकना' कहा। असीस सुनी। लहनासिंह चुप।

'मुझे पहचाना?'

'नहीं'

'तेरी कुड़माई हो गई—धत्—कल होगई—देखता नहीं, रेशमी बूटों वाला सालू—अमृतसर में—'

भावों की टकराहट से मूर्च्छा खुली। करवट बदली। पसली का घाव बह निकला।

'वजीरा पानी पिला'—'उसने कहा था।'

❀ ❀ ❀ ❀

स्वप्न चल रहा है। सूबेदारनी कह रही है—'मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया। एक काम कहती हूँ। मेरे तो भाग फूट गये। सरकार ने बहादुरी का खिताब दिया है, लायलपुर में जमीन दी है, आज नमक-हलाली का मौका आया है। पर सरकार ने हम तीमियों[1] की एक घँगरिया पल्टन क्यों न बना दी, जो मैं भी सूबेदार जी के साथ चली जाती? एक बेटा है। फौज में भर्ती हुए उसे एक ही बरस हुआ। उसके पीछे चार हुए, पर एक भी नहीं जिया।' सूबेदारनी रोने लगी। 'अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग! तुम्हें याद है, एक दिन ताँगे वाले का घोड़ा दही वाले की दूकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाये थे। आप घोड़े की लातों में चले गये थे और मुझे उठाकर

---

१ स्त्रियों।

दूकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनों को बचाना। यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे मैं आँचल पसारती हूँ।'

रोती-रोती सूबेदारनी ओवरी[1] में चली गई। लहना भी आँसू पोंछता हुआ बाहर आया।

❀ ❀ ❀ ❀

लहना का सिर अपनी गोद में रक्खे वज़ीरासिंह बैठा है। जब माँगता है, तब पानी पिला देता है। आधे घण्टे तक लहना चुप रहा, फिर बोला—"कौन ! कीरतसिंह"

"वजीरा ने कुछ समझकर कहा—हाँ।"

"भइया, मुझे और ऊँचा कर ले। अपने पट्ट[2] पर मेरा सिर रख ले।"

वज़ीरा ने वैसा ही किया।

"हाँ, अब ठीक है। पानी पिला दे। बस, अब के हाड़[3] में यह आम खूब फलेगा। चचा-भतीजा दोनों यहीं बैठकर आम खाना। जितना बड़ा तेरा भतीजा है, उतना ही यह आम है। जिस महीने उसका जन्म हुआ था, उसी महीने में मैंने इसे लगाया था।"

वज़ीरासिंह के आँसू टप-टप टपक रहे थे।

❀ ❀ ❀ ❀

कुछ दिन पीछे लोगों ने अखबारों में पढ़ा—फ्रान्स और बेलजियम ६८ वीं सूची—मैदान में घावों से मरा—नं० ७७ सिक्ख राइफल्स जमादार लहनासिंह।

---

१ अन्दर का घर। २ जाँघ। ३ आषाढ़।

३

मधुआ

श्री जयशङ्करप्रसाद

[आपने आरम्भ में अपनी साहित्यिक अभिरुचि का परिचय कथाकार के रूप में दिया, जब आपकी कथायें 'इन्दु' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुईं। जिन दिनों हिन्दी में कहानियों का सूत्रपात हुआ था उसी समय आपने 'ग्राम, आकाशदीप, चित्र मन्दिर, प्रतिध्वनि, विसाती, स्वर्ग के खण्डहर' आदि अनेकों कहानियाँ लिखी थीं। आगे चलकर आपने कथा-साहित्य को छोड़कर नाट्य-साहित्य और काव्य-साहित्य के भण्डार को भरा और हिन्दी-साहित्यिकों में अपना विशिष्ट स्थान निर्धारित किया। आपकी कहानियों में भी आपकी मौलिकता तथा साहित्यिक भावावली उपलब्ध होती है। भाषा भी सौष्ठवपूर्ण है। प्रस्तुत कहानी में आपने करुण तथा मनुष्यों की प्रवृत्तियों का उत्तम अन्तर्द्वन्द्व दिखाया है।]

'आज सात दिन हो गये, पीने की कौन कहे, छुआ तक नहीं! आज सातवाँ दिन है सरकार!'

'तुम झूठे हो। अभी तो तुम्हारे कपड़े से महक आ रही है।'

'वह'''वह तो कई दिन हुए सात दिन से ऊपर—कई दिन हुए—अँधेरे में बोतल उँड़ेलने लगा था। कपड़े पर गिर जाने

से नशा भी न आया। और आपको कहने का''''क्या कहूँ''''सच मानिए। सात दिन—ठीक सात दिन से एक बूँद भी नहीं।'

ठाकुर सरदारसिंह हँसने लगे। लखनऊ में लड़का पढ़ता था। ठाकुर साहब भी कभी-कभी वहीं आ जाते। उनको कहानी सुनने का चसका था। खोजने पर यही शराबी मिला। वह रात को, दोपहर में, कभी-कभी सवेरे भी आ जाता। अपनी लच्छेदार कहानी सुनाकर ठाकुर का मनोविनोद करता।

ठाकुर ने हँसते हुए कहा—'तो आज पियोगे न ?'

'झूठ कैसे कहूँ। आज तो जितना मिलेगा, सब की पीऊँगा। सात दिन चने-चबैने पर बिताये, किस लिए ?'

'अद्भुत ! सात दिन पेट काटकर, आज अच्छा भोजन, न करके तुम्हें पीने की सूझी है ! यह भी''''''

'सरकार ? मौज बहार की एक घड़ी, एक लम्बे दुःख पूर्ण जीवन से अच्छी है। उसकी खुमारी में रूखे दिन काट लिए जा सकते हैं ?'

'अच्छा, आज, दिन भर तुमने क्या-क्या किया है ?'

'मैंने ? अच्छा सुनिए—सवेरे कुहरा पड़ता था। मेरे धुआँ से कम्बल-सा वह भी सूर्य के चारों ओर लिपटा था। हम दोनों मुँह छिपाये पड़े थे।'

ठाकुर साहब नें हँसकर कहा—'अच्छा, तो इस मुँह छिपाने का कोई कारण ?'

'सात दिन से एक बूँद भी गले न उतरी थी। भला मैं कैसे मुँह दिखा सकता था। और जब बारह बजे धूप निकली,

तो फिर लाचारी थी। उठा, हाथ-मुँह धोने में जो दुःख हुआ सरकार, वह क्या कहने की बात है। पास में पैसे बचे थे। चना चबाने से दाँत भाग रहे थे। कट कटी लग रही थी। पराँठे वाले के यहाँ पहुँचा, धीरे-धीरे खाता रहा और अपने को सेंकता भी रहा। फिर गोमती किनारे चला गया। घूमते-घूमते अँधेरा हो गया, बूँदें पड़ने लगीं।

'अच्छा, जो उस दिन तुमने गड़ेरिये वाली कहानी सुनाई थी जिसमें आसफ़ुद्दौला ने उसकी लड़की का आँचल भुने हुए भुट्टे के दानों के बदले, मोतियों से भर दिया था, वह क्या सच है?'

'सच! अरे वह गरीब लड़की भूख से उसे चबाकर थू-थू करने लगी।....रोने लगी। ऐसी निर्दय दिल्लगी बड़े लोग कर ही बैठते हैं। सुना है, श्रीरामचन्द्र ने भी हनुमानजी से ऐसी ही....'

ठाकुर साहब ठठाकर हँसने लगे। पेट पकड़कर हँसते-हँसते लोट गये। साँस बटोरते हुए सम्हलकर बोले—'और बड़प्पन कहते किसे हैं। कंगाल तो कंगाल! गधी लड़की! भला उसने कभी मोती देखे थे, चबाने लगी होगी। मैं सच कहता हूँ, आज तक तुमने जितनी कहानियाँ सुनाईं, सब में बड़ी टीस थी। शहज़ादों के दुखड़े, रंग महल की अभागिनी बेगमों के निष्फल प्रेम, करुण-कथा और पीड़ा से भरी हुई कहानियाँ हीं तुम्हें आती हैं; पर ऐसी हँसाने वाली कहानी और सुनाओ, तो मैं तुम्हें अपने सामने ही बढ़िया शराब पिला सकता हूँ।'

'सरकार! बूढ़ों से सुने हुए वे नवाबी के सोने-से दिन

अमीरों की रँग-रेलियाँ ! दुखियों की दर्द-भरी आहें ! रंग-महलों में घुल-घुलकर मरने वाली वेगमें अपने आप सिर में चक्कर काटती रहती हैं। मैं उनकी पीड़ा से रोने लगता हूँ। अमीर कंगाल हो जाते हैं। वड़े-वड़े घमण्डी चूर होकर धूल में मिल जाते हैं। तव भी दुनिया वड़ी पागल है। मैं उसको, पागलपन को भूलने के लिए शराव पीने लगता हूँ—सरकार ! नहीं तो यह वुरी वला कौन अपने गले लगाता !'

ठाकुर साहव ऊँघने लगे थे। अँगीठी में कोयला दहक रहा था। शरावी सरदी से ठिठुरा जा रहा था। वह हाथ सेंकने लगा। सहसा नींद से चौंककर ठाकुर साहव ने कहा—

'अच्छा जाओ, मुझे नींद लग रही है। वह देखो, एक रुपया पड़ा है, उठा लो। लल्लू को भेजते जाओ।'

शरावी रुपया उठाकर धीरे से खिसका। लल्लू था ठाकुर साहव का जमादार। उसे खोजते हुए जब वह फाटक पर की वगल वाली कोठरी के पास पहुँचा, तो उसे सुकुमार कण्ठ के सिसकने का शब्द सुनाई पड़ा। वह खड़ा होकर सुनने लगा।

"तो सूअर ! रोता क्यों है ? कुँअर साहव ने दो ही लात न लगाई हैं ! कुछ गोली तो नहीं मार दी ?"—कर्कश स्वर में लल्लू वोल रहा था; किन्तु उत्तर में सिसकियों के साथ एकाध हिचकी ही सुनाई पड़ जाती। अव और भी कठोरता से लल्लू ने कहा—'मधुआ ! जा सो रह ! नखरा न कर, नहीं तो उठूँगा तो खाल उधेड़ दूँगा ? समझा न ?'

शरावी चुपचाप सुन रहा था। वालक की सिसकी और वढ़ने लगी। फिर उसे सुनाई पड़ा—ले, अव भागता है कि नहीं। क्यों मार खाने पर तुला है ?

भयभीत बालक बाहर चला आ रहा था। शराबी ने उसके छोटे-से सुन्दर गोरे मुँह को देखा। आँसू की बूँदें ढुलक रहीं थीं। बड़े दुलार से पोंछते हुए उसे लेकर वह फाटक के बाहर चला आया। दस बज रहे थे। कड़ाके की सर्दी। दोनों चुपचाप चलने लगे। शराबी की मौन सहानुभूति को उस छोटे से सरल हृदय ने स्वीकार कर लिया। वह चुप हो गया। अभी वह एक तंग गली पर रुका था कि बालक के फिर से सिसकने की उसे आहट लगी, वह भी झिड़क कर बोल उठा—

'अब क्यों रोता है रे छोकरे ?'

"मैंने दिन-भर से कुछ खाया नहीं।"

"कुछ खाया नहीं; इतने बड़े अमीर के यहाँ रहता है और दिन भर तुझे खाने को नहीं मिला ?"

"यही तो मैं कहने गया था जमादार के पास; मार तो रोज ही खाता हूँ। आज तो खाना ही नहीं मिला। कुँअर साहब का ओवर कोट लिये खेल में दिन-भर साथ रहा। सात बजे लौटा, तो और भी ६ बजे तक कुछ काम करना पड़ा। आटा रख नहीं सका। रोटी बनती तो कैसे ! जमादार से कहने गया था।" भूख की बात कहते-कहते बालक के ऊपर उसकी दीनता और भूख ने एक साथ ही जैसे आक्रमण कर दिया। वह फिर हिचकियाँ लेने लगा।

शराबी उसका हाथ पकड़ कर घसीटता हुआ गली में ले चला। एक गन्दी कोठरी का दरवाजा खोलकर बालक को लिये हुए वह भीतर पहुँचा। टटोलते हुए सलाई से मिट्टी की ढेबरी जला कर वह फटे कम्बल के नीचे से कुछ खोजने लगा। एक परांठे का टुकड़ा मिला। शराबी उसे बालक के हाथ में देकर बोला—तब तक तू इसे चबा; मैं तेरा गा

भरने के लिए कुछ और ले आऊँ—सुनता है रे छोकरे! रोना मत, रोयेगा तो खूब पीटूँगा! मुझसे रोने से बड़ा वैर है। पाजी कहीं का, मुझे भी रुलाने का……।

शरावी गली से वाहर भागा। उसके हाथ में एक रुपया था। वारह आने का एक अद्धा और दो आने का चाँप…… दो आने की पकौड़ी, नहीं-नहीं आलू मटर……अच्छा, न सही। चारों आने का माँस ही ले लूँगा, पर यह छोकरा! इसका गढ़ा जो भरना होगा, यह कितना खायगा और क्या खायगा? ओह! आज तक तो कभी मैंने दूसरों के खाने का सोच किया ही नहीं। तो क्या ले चलूँ? पहले एक अद्धा ही ले लूँ!— इतना सोचते-सोचते उसकी आँखों पर विजली के प्रकाश की झलक पड़ी। उसने अपने को मिठाई की दूकान पर खड़ा पाया। वह शराव का अद्धा लेना भूलकर मिठाई और पूरी खरीदने लगा। नमकीन लेना भी न भूला। पूरे एक रुपये का सामान लेकर वह दुकान से हटा। जल्द पहुँचने के लिए एक तरह से दौड़ने लगा। अपनी कोठरी में पहुँच कर उसने दोनों की पाँत वालक के सामने सजा दी। उसकी सुगन्ध से वालक के गले में एक तरह की तरावट पहुँची। वह मुस्कराने लगा।

शरावी ने मिट्टी की गगरी से पानी उड़ेलते हुए कहा— 'नटखट कहीं का, हँसता है! सोंधी वास नाक में पहुँची न। ले खूब ठूँसकर खा ले, और रोया कि पिटा!'

दोनों ने वहुत दिन पर मिलने वाले दो मित्रों की तरह साथ वैठकर भर-पेट खाया। सीली जगह में सोते हुए वालक ने शरावी का पुराना बड़ा कोट ओढ़ लिया था। जव उसे नींद आ गई तो शरावी भी कम्वल तानकर वड़वड़ाने लगा—

सोचा था, आज सात दिन पर भर-पेट पीकर सोऊँगा; लेकिन यह छोटा-सा रोना पाजी; न जाने कहाँ से आ धमका।

\+ + + +

एक चिन्तापूर्ण आलोक में आज पहले-पहल शराबी ने आँख खोल कर, कोठरी में बिखरी हुई दारिद्र्य की विभूति को देखा और देखा उस घुटनों से ठुड्डी लगाये हुए निरीह बालक को। उसने तिलमिला कर मन-ही-मन प्रश्न किया किसने ऐसे सुकुमार फूलों को कष्ट देने के लिये निर्दयता की सृष्टि की? आह री नियति! तब इसको लेकर मुझे घरवाली बनना पड़ेगा? दुर्भाग्य! जिसे मैंने कभी सोचा भी न था। मेरी इतनी माया-ममता—जिस पर आज तक केवल बोतल का ही अधिकार था—उसका पक्ष क्यों लेने लगी? इस छोटे पाजी ने मेरे जीवन के लिये कौन-सा इन्द्रजाल रचने का बीड़ा उठाया है? तब क्या करूँ? कोई काम करूँ? कैसे दोनों का पेट चलेगा? नहीं भगा दूँगा इसे—आँख तो खोले।

बालक अँगड़ाई ले रहा था। उठ बैठा। शराबी ने कहा—ले, उठ, कुछ खा ले। अभी रात का बचा हुआ है, और अपनी राह देख! तेरा नाम क्या है रे?

बालक ने सहज हँसी हँसकर कहा—मधुआ। भला हाथ-मुँह भी न धोऊँ, खाने लगूँ। और जाऊँगा कहाँ?

'आह! कहाँ बताऊँ इसे कि चला जाय! कहदूँ कि भाड़ में जा; किन्तु वह आज तक दुःख की भट्टी में जलता ही रहा है। तो....' वह चुपचाप घर से झल्लाकर सोचता हुआ निकला लें पाजी, अब यहाँ लौटूँगा ही नहीं। तू ही कोठरी में रह!

शराबी घर से निकला। गौमती-किनारे पहुँचने पर उसे स्मरण हुआ कि वह कितनी ही बातें सोचता आ रहा था; पर कुछ भी न सोच सका। हाथ-मुँह धोने में लगा। उजली हुई धूप निकल आई थी। वह चुपचाप गौमती की धारा को देख रहा था। धूप की गरमी से सुखी होकर वह चिन्ता भुलाने का प्रयत्न कर रहा था, कि किसी ने पुकारा—

'भले आदमी रहे कहाँ ? सालों पर दिखाई पड़े। तुमको खोजते-खोजते में थक गया।'

शराबी ने चौंककर देखा। वह कोई जान-पहचान का तो मालूम होता था; पर कौन है, यह ठीक-ठीक न जान सका।

उसने फिर कहा—'तुम्हीं से कह रहे हैं। सुनते हो, उठा ले जाओ अपनी सान धरने की कल, नहीं तो सड़क पर फेंक दूँगा। एक ही तो कोठरी, जिसका मैं दो रुपये किराया देता हूँ, उसमें क्या मुझे अपना कुछ रखने के लिए नहीं है ?'

'ओ हो ! रामजी, तुम हो, भाई मैं तो भूल गया था। तो चलो आज ही उसे उठा लाता हूँ।' कहते हुए शराबी ने सोचा—अच्छी रही; उसी को बेचकर कुछ दिनों तक काम चलेगा।

गोमती नहाकर, रामजी उसका साथी, पास ही अपने घर पर पहुँचा। शराबी को कल देते हुए उसने कहा—'ले जाओ, किसी तरह मेरा इससे पिण्ड छूटे।'

बहुत दिनों पर आज उसको कल ढोना पड़ा। किसी तरह अपनी कोठरी में पहुँचकर उसने देखा कि बालक चुपचाप बैठा है। बड़बड़ाते हुए उसने पूछा—'क्यों रे, तूने कुछ खा लिया कि नहीं ?'

'भर-पेट खा चुका हूँ ! और वह देखो तुम्हारे लिये भी

रख दिया है।'—कहकर उसने अपनी स्वाभाविक मधुर हँसी से उस रूखी कोठरी को तर कर दिया। शराबी एक क्षण-भर चुप रहा। फिर चुपचाप जलपान करने लगा। मन-ही-मन सोच रहा था—यह भाग्य का संकेत नहीं तो और क्या है! चलूँ, फिर लेकर सान देने का काम चलता करूँ। दोनों का पेट भरेगा। वही पुराना चरखा फिर सिर पड़ा। नहीं तो दो बातें किस्सा-कहानी इधर-उधर की कहकर; अपना काम चला ही लेता था। पर अब तो बिना कुछ किये नहीं चलने का। जल पीकर बोला—'क्यों रे मधुआ, अब तू कहाँ जायगा ?'

'कहीं नहीं।'

'यह लो, तो फिर क्या यहाँ जमा गढ़ी है, कि मैं खोद खोद कर तुझे मिठाई खिलाता रहूँगा ?'

'तब कोई काम करना चाहिए।'

'करेगा ?'

'जो कहो !'

'अच्छा, तो आज से मेरे साथ-साथ घूमना पड़ेगा। यह कल तेरे लिये लाया हूँ। चल, आज से तुझे सान रखना सिखलाऊँगा। कहाँ रहूँगा, इसका कुछ ठीक नहीं। पेड़ के नीचे रात बिता सकेगा न !'

'कहीं भी रह सकूँगा; पर उस ठाकुर की नौकरी न कर सकूँगा ?'

शराबी ने एक बार स्थिर दृष्टि से उसे देखा। बालक की आँखें दृढ़ निश्चय की सौगन्ध खा रही थीं।

शराबी ने मन ही मन कहा—'बैठे बैठाये यह हत्या कहाँ

से लगी। अब तो शराब न पीने की मुझे भी सौगन्ध लेनी पड़ी।

वह साथ ले जाने वाली वस्तुओं को बटोरने लगा। एक गट्ठर का दूसरा कल का, दो बोझ हुए।

शराबी ने पूछा—'तू किसे उठायेगा ?'

'जिसे कहो।'

'अच्छा, तेरा बाप जो मुझको पकड़े तो ?'

'कोई नहीं पकड़ेगा, चलो अभी। मेरे बाप मर गये।'

शराबी आश्चर्य से उसका मुँह देखता हुआ कल उठाकर खड़ा हो गया। बालक ने गठरी लादी। दोनों कोठरी छोड़ कर चल पड़े।

४

सन्यासी

श्री सुदर्शन

[श्री सुदर्शन जी पंजाब प्रान्त के निवासी हैं। इनका हिन्दी तथा उर्दू दोनों भाषाओं पर समान अधिकार है। आपने हिन्दी में अनेकों कहानियाँ लिखी हैं और उनके संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं। आपने कतिपय नाटकों की भी रचना की है परन्तु लघु कथाओं के समान उनमें आपको विशेष कीर्ति प्राप्त न हो सकी। आप एक कुशाग्र सम्पादक भी हैं। पंजाबी होने पर भी आपकी भाषा में लालित्य है। मर्मस्पर्शी शैली द्वारा आप अपने पाठकों को जिस समय चाहते हैं रुलाते या हँसाते हैं। प्रस्तुत कहानी में 'पालू' का चरित्र पाठक के हृदय में अन्त तक कौतूहल उत्पन्न करता चलता है। जीवन की विषमताएँ 'पालू' के जीवन में अन्तर्हित हैं। पालू के पुत्र सुखदयाल का चरित्र हिन्दू समाज के अत्याचारों का स्मरण दिलाता है। पालू की आत्मिक शान्ति के उद्देश्य में लेखक ने बड़े कौशल से लोक-सेवा का या पिता के पावन कर्त्तव्य का स्मरण दिलाया है।

लखनवाल जिला गुजरात का पालू उन मनुष्यों में से था जो गुणों की गुथली कहे जाते हैं। यदि वह गाँव में न होता तो होलियों में झाँकियों का, दीवाली पर जुए का और दशहरे पर रामलीला का प्रबन्ध कठिन हो जाता था। उन दिनों

उसे खाने-पीने तक की सुध न रहती और वह तनमन से इन कार्यों में लीन रहता था। गाँव में कोई गाने वाला आ जाता, तो लोग पालू के पास जाते कि देखो कुछ राग विद्या जानता भी है, या यों ही हमें गँवार समझ कर धोखा देने आ गया है। पालू अभिमान से सिर हिलाता और उत्तर देता— पालू के रहते हुए तो यह असम्भव है पीछे की भगवान् जाने। केवल इतना ही नहीं; वह बाँसुरी और घड़ा बजाने में भी पूरा उस्ताद था। हीररांझे का किस्सा पढ़ने में तो दूर-दूर तक कोई उसके जोड़ का न था। दोपहर के समय जब वह पीपल के वृक्ष के नीचे बैठकर ऊँचे स्वर से जोगी और सहती के प्रश्नोत्तर पढ़ता, तो सारे गाँव के लोग इकट्ठे हो जाते और उसकी प्रशंसा के पुल बाँध देते। उसके स्वर में जादू था। वह कुछ दिन के लिए बाहर चला जाता, तो गाँव में उदासी छा जाती। पर उसके घर के लोग उसके गुणों को नहीं जानते थे। पालू मन-ही-मन इस पर बहुत कुढ़ता था। तीसरे पहर घर जाता, माँ ठण्डी रोटियाँ सामने रख देती। रोटियाँ ठण्डी होती थीं, पर गालियों की भाजी गर्म होती थी। उस पर भावजें मीठे तानों से कड़वी मिर्चें छिड़क देतीं थीं। पालू उन मिर्चों से कभी-कभी बिलबिला उठता था परन्तु लोगों की सहानुभूति मिश्री की डली का काम दे जाती थी।

वे तीन भाई थे—सुचालू, बालू और पालू। सुचालू गवर्नमेंट स्कूल गुजरात में व्यायाम का मास्टर था, इसलिए लोग उसे सुचालमल के नाम से पुकारते थे। बालू दूकान करता था उसे बालकराम कहते थे। परन्तु पालू की रुचि सर्वथा खेल-कूद ही में थी। पिता समझाता, माँ उपदेश करती,

भाई निष्ठुर दृष्टि से देखते। मगर पालू सुना-अनसुना कर देता और अपने रंग में मस्त रहता।

इसी प्रकार पालू की आयु के तेतीस वर्ष बीत गये; परन्तु काई लड़की देने को तैयार न हुआ। माँ दुखी होती थी, मगर पालू हँसकर टाल देता और कहता—मैं व्याह करके क्या करूँगा? मुझे इस वन्धन से दूर ही रहने दो। परन्तु विधाता के लेख को कौन मिटा सकता है। पाँच मील की दूरी पर टाँडा नामक ग्राम है वहाँ के एक चौधरी ने पालू को देखा तो लट्टू हो गया। रूप रंग में सुन्दर था, शरीर सुडौल। जात पाँत पूछ कर उसने अपनी वेटी व्याह दी।

२

पालू के जीवन में पलटा आ गया। पहले वह दिन के बारह घण्टे वाहर रहता था और घर से ऐसा घबराता था, जैसे चिड़िया पिंजरे से। परन्तु अब वही पिंजरा उसके लिए वाटिका बन गया जिसके बाहर पाँव रखते हुए उसका चित्त उदास हो जाता था। स्त्री क्या, उसका संसार बदल गया। अब उसे न बाँसुरी से प्रेम था न किस्सों से प्रीति। लोग कहते, यार! कैसे जोरू के दास हो, कभी बाहर ही नहीं निकलते। हमारे सब साज-समाज उजड़ गये। क्या भाभी कभी कमरे से बाहर निकलने की भी आज्ञा नहीं देती? माँ कहती, बेटा सबके व्याह होते आये हैं; परन्तु तेरे सरीखा निर्लज्ज किसी को नहीं देखा कि दिन-रात स्त्री के पास बैठा ही रहे। पिता उसके मुँह पर उसे कुछ कहना उचित नहीं समझता था, मगर सुनाकर कह दिया करता था कि जब मेरा व्याह हुआ था, तब मैंने दिन के समय तीन वर्ष तक स्त्री के साथ बात न की थी। अब तो समय का रंग ही पलट

गया है। आज व्याह होता है, कल घुल-घुलकर बातें होने लगती हैं। पालू लाख अनपढ़ था, परन्तु मूर्ख नहीं था कि इन बातों का अर्थ न समझता। पर स्वभाव का बेपरवा था, हँसकर टाल देता। होते-होते नौबत यहाँ तक पहुँची, कि भाई-भावजें बात-बात में ताने मारने और घृणा की दृष्टि से देखने लगे। मनुष्य सब कुछ सह लेता है; पर अपमान नहीं सह सकता। पालू बार-बार के अपमान को देखकर चुप न रह सका। एक दिन पिता के सामने जाकर बोला—'यह क्या रोज-रोज ऐसा ही होता रहेगा?'

पिता भी उससे बहुत दुखी था, झल्लाकर बोला—

'तुम्हारे जैसों के साथ इसी तरह होना चाहिए।'

'पराई बेटी को विष खिला दूँ?'

'नहीं, गले में डाल लो। जगत् में तुम्हारा अनोखा व्याह हुआ है।'

पालू ने कुछ धीरज से पूछा—'आप अपना विचार प्रकट कर दें। मैं भी तो कुछ जान पाऊँ।'

'सारे गाँव में तुम्हारी मिट्टी उड़ रही है। अभी बतलाने की बात बाक़ी रह गई है?'

'पर मैंने ऐसी कोई बात नहीं की जिससे मेरी निन्दा हो।'

'सारा दिन स्त्री के पास बैठे रहते हो, यह क्या कोई थोड़ी निन्दा की बात है? तुम सुधर जाओ, नहीं तो सारी आयु रोते रहोगे। हमारा क्या है, नदी किनारे के रूख हैं, आज हैं कल बह गये; परन्तु इतना तो सन्तोष रहे, कि जीते-जी अपने सब पुत्रों को कमाते खाते देख लिया।'

कहते-कहते पिता के नेत्रों में आँसू भर आये। उसकी एक-एक बात जँची तुली थी।

पालू को अपनी भूल का ज्ञान हो गया, सिर झुकाकर बोला—'तो जो कहें वही करने को उद्यत हूँ।'

इतनी जल्दी काम बन जायगा, पिता को यह आशा न थी। प्रसन्न होकर कहने लगा—'जो कहूँगा, करोगे ?'

'हाँ करूँगा।'

'स्त्री को उसके घर भेज दो।'

पालू को ऐसा प्रतीत हुआ मानो किसी ने विष का प्याला सामने रख दिया हो। यदि उसे यह कहा जाता, कि तुम घर से बाहर चले जाओ और एक दो वर्ष वापस न लौटो, तो वह सिर न हिलाता; परन्तु इस बात से, जो उसकी भूलों की निकृष्टतर स्वीकृति थी, उसके अन्तःकरण को दारुण दुःख हुआ। उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो उसका पिता उसे दण्ड दे रहा है और उससे प्रतिकार ले रहा है। वह दण्ड भुगतने को तैयार था; परन्तु उसका पिता इस बात को जान पाये, यह उसे स्वीकार न था, वह इसे अपने लिए अपमान का कारण समझता था, इसलिए कुछ क्षण चुप रह कर उसने क्रोध से काँपते हुए उत्तर दिया—

'यह न होगा।'

'मेरी कुछ भी परवा न करोगे ?'

'करूँगा; पर स्त्री को उसके घर न भेजूँगा।'

'तो मैं भी तुम्हें पराँवठे न खिलाता रहूँगा। कल से किनारा करो।'

जब मनुष्य को क्रोध आता है, तो सबसे पहले जीभ बेकाबू होती है। पालू ने भी उचित-अनुचित का विचार न किया और अकड़कर उत्तर दिया—'मैं इसी तरह से खाऊँगा और देखूँगा कि मुझे चौके से कौन उठा देता है ?'

बात साधारण थी; परन्तु हृदय में गाँठ बँध गई। पालू को उसकी माँ ने भी समझाया, पर उसने किसी की बात पर कान न दिया, और बेपरवाही से सबको टाल दिया। दिन को प्रेम के दौर चलते, रात को स्वर्ग-वायु के झकोरे आते। पालू की स्त्री की गोद में दो वर्ष का बालक खेलता था, जिस पर माता-पिता दोनों न्यौछावर थे। एकाएक उजाले ने अन्धकार में सिर निकाला। गाँव में विसूचिका का रोग फूट पड़ा, जिसका पहला शिकार पालू की स्त्री हुई।

पालू विलक्षण मनुष्य था। धीरता और नम्रता उसके स्वभाव से सर्वथा प्रतिकूल थी। बाल्यावस्था से ही वह बेपरवाह था। बेपरवाही चरमसीमा तक पहुँच चुकी थी। आठ-आठ दिन घर से बाहर रहना उसके लिए साधारण बात थी। फिर विवाह हुआ, प्रेम ने हृदय के साथ पाँवों को भी जकड़ लिया। यह वह समय था, जब उसके नेत्र एकाएक बाह्य संसार की ओर से बन्द हो गये और वह इस प्रकार प्रेम-पास में फँस गया, जैसे—शहद में मक्खी। मित्र-मण्डली नोंक-झोंक करती थी, भाई-बन्धु आँखों में मुसकराते थे; मगर उसके नेत्र और कान—दोनों बन्द थे। परन्तु जब स्त्री मर गई, तो पालू की प्रकृति फिर चंचल हो उठी। इस चंचलता को न खेल-तमाशे रोक सके न मनोरञ्जक किस्से-कहानियाँ। वह दोनों रास्ते उससे पददलित किए जा चुके थे। प्रायः ऐसा देखा गया है कि पढ़े-लिखे लोगों की अपेक्षा अनपढ़ और मूर्ख लोग अपनी टेक का ज्यादा ख्याल रखते हैं और इसके लिए तन-मन-धन तक न्यौछावर कर देते हैं। पालू में यह गुण कूट-कूट कर भरा हुआ था। माता-पिता ने दुबारा विवाह करने की ठानी; परन्तु पालू ने स्वीकार न

किया और उनके बहुत कहने-सुनने पर कहा कि जिस बन्धन से एक बार छुट चुका हूँ, उसमें दुबारा न फसूँगा। गृहस्थ का सुख भोग मेरे प्रारब्ध में न था, यदि होता तो मेरी पहली स्त्री क्यों मरती। अब तो इसी प्रकार जीवन बिता दूँगा; परन्तु यह अवस्था भी अधिक समय तक न रह सकी। तीन मास के अन्दर-अन्दर उसके माता-पिता दोनों चल बसे। पालू के हृदय पर दूसरी चोट लगी। क्रिया-कर्म से निवृत्त हुआ, तो रोता हुआ बड़ी भावज के पाँवों पर गिर पड़ा और बोला—'अब तो तुम्हीं बचा सकती हो, अन्यथा मेरे मरने में कोई कसर नहीं।'

भावज ने उसके सिर पर हाथ फेर कर कहा—'मैं तुम्हें पुत्रों से बढ़कर चाहूँगी। क्या हुआ जो तुम्हारे माता-पिता मर गये। हम तो जीते हैं।'

'यह नहीं, मेरे बेटे को सँभालो मैं अब घर में न रहूँगा।'

उसकी भाभी आवाक् रह गई। पालू अब सम्पत्ति बाँटने के लिए झगड़ा करेगा, उसे इस बात की शंका थी; परन्तु यह सुन कर कि पालू घर-बार छोड़ जाने को उद्यत है, उसका हृदय आनन्द से झूलने लगा। मगर अपने हर्ष को छिपा कर बोली—

'यह क्या ? तुम हमें छोड़ जाओगे, तो हमारा जी यहाँ कैसे लगेगा ?'

'नहीं, अब यह घर भूत के समान काटने दौड़ता है। मैं यहाँ रहूँगा तो जीता न बचूँगा। मेरे बच्चे के सिर पर हाथ रखो। मुझे न धन चाहिए, न सम्पत्ति। मैं सांसारिक धन्धों से मुक्त होना चाहता हूँ। अब मैं सन्यासी बनूँगा।

यह कह कर अपने पुत्र सुखदयाल को पकड़ कर भावज

की गोद में डाल दिया और रोते हुए बोला—'इसकी माँ मर चुकी है, पिता संन्यासी हो रहा है। परमात्मा के लिए इसका हृदय न दुखाना।'

वालक ने जव देखा कि पिता रो रहा है, तो वह भी रोने लगा और उसके गले लिपट गया; परन्तु पालू के पाँवों को यह स्नेहरज्जु भी न बाँध सकी। उसने हृदय पर पत्थर रखा और अपने संकल्प को दृढ़ कर लिया।

कैसा हृदय-वेधक दृश्य था, सायंकाल को जव पशु-पक्षी अपने-अपने वच्चों के पास घरों को वापस लौट रहे थे, पालू अपने वच्चे को छोड़कर वाहर जा रहा था।

४

दो वर्ष वीत गये। पालू की अवस्था में आकाश-पाताल का अन्तर पड़ गया। वह पर्वत पर रहता था, पत्थरों पर सोता था, रात्रि को जागता था और प्रति-क्षण ईश्वर-भक्ति में मग्न रहता था। उसके इस आत्म-संयम की सारे हृषिकेश में धूम मच गई। लोग कहते, यह मनुष्य नहीं देवता है। यात्री जव तक स्वामी विद्यानन्द के दर्शन नहीं कर लेते, अपनी यात्रा को सफल न समझते। उसकी कुटिया बहुत दूर पर्वत की कन्दरा में थी, परन्तु उसके आकर्षण से लोग वहाँ खिंचे चले जाते थे। उसकी कुटिया में रुपये-पैसे और फल मेवे के ढेर लगे रहते थे; परन्तु वह त्याग का मूर्तिमान्-रूप उनकी ओर आँख भी न उठाता था। हाँ, इतना लाभ अवश्य हुआ कि उनके निमित्त स्वामीजी के बीसों चेले बन गये। स्वामीजी के मुख-मण्डल पर तेज वरसता था जैसे सूरज की किरणें निकलती हैं। परन्तु इतना होते हुए भी मन को शान्ति न थी। बहुधा सोचा करते कि देश-देशान्तर में मेरी

भक्ति की धूम मच रही है, दूर-दूर मेरे यश के डंके बज रहे हैं; परन्तु मेरे मन को शान्ति क्यों नहीं। सोता हूँ, तो सुख की निद्रा नहीं आती; जागता हूँ तो पूजा-पाठ में मन एकाग्र नहीं होता। इसका कारण क्या है? उन्हें कई बार ऐसा अनुभव हुआ कि चित्त में अशान्ति है; पर वह क्यों है, इसका पता न लगता।

इसी प्रकार दो वर्ष व्यतीत हो गये। स्वामी विद्यानन्द की कीर्ति सारे हृषिकेश में फैल गई; परन्तु इतना होने पर भी उनका हृदय शान्त न था। प्रायः उनके कान में आवाज आती थी कि तू अपने आदर्श से दूर जा रहा है। स्वामीजी बैठे-बैठे चौंक उठते, मानों किसी ने काँटा चुभा दिया है। बार-बार सोचते; परन्तु कारण समझ में न आता। तब घबरा कर रोने लग जाते। इससे मन तो हल्का हो जाता था; परन्तु चित्त को शांति फिर भी न होती। उस समय सोचते—संसार मुझे धर्मावतार समझ रहा है; पर कौन जानता है कि यहाँ आठों पहर आग सुलग रही है। पता नहीं पिछले जन्म में कौन पाप किये थे, जिससे अब तक आत्मा को शांति नहीं मिलती।

अन्त में उन्होंने एक दिन दण्ड हाथ में लिया और अपने गुरु स्वामी प्रकाशानन्द के पास पहुँचे। उस समय वे रामायण की कथा से निवृत्त हुए थे। उन्होंने ज्यों ही स्वामी विद्यानन्द को देखा, फूल की तरह खिल गये। उनको विद्यानन्द पर गर्व था। हँसकर बोले—

'कहिए, क्या हाल है, शरीर तो अच्छा है?'

परन्तु स्वामी विद्यानन्द ने कोई उत्तर न दिया और रोते हुए उनके चरणों से लिपट गये।

स्वामी प्रकाशानन्द को बड़ा आश्चर्य हुआ। अपने सबसे अधिक माननीय शिष्य को रोते देखकर उनकी आत्मा को आघात-सा लगा। उन्हें प्यार से उठाकर बोले—'क्यों कुशल तो है ?'

स्वामी विद्यानन्द ने बालकों की तरह फूट-फूटकर रोते हुए कहा—'महाराज मैं पाखण्डी हूँ। संसार मुझे धर्मावतार कह रहा है; परन्तु मेरे मन में अभी तक अशान्ति भरी हुई है। मेरा चित्त आठों पहर अशान्त रहता है।'

जिस प्रकार भले-चंगे मनुष्य को देखने के कुछ क्षण पश्चात् उसकी मृत्यु का समाचार सुनकर विश्वास नहीं होता, उसी प्रकार स्वामी प्रकाशानन्द को अपने, सदाचारी शिष्य की बात पर विश्वास न हुआ और उन्होंने व्यंग्य से, मानो उनके कानों ने धोखा खाया हो, पूछा—'क्या कहा ?'

स्वामी विद्यानन्द ने शिर झुकाकर उत्तर दिया—'महाराज, मेरा शरीर दग्ध हो गया है; परन्तु आत्मा अभी तक निर्मल नहीं हुई।'

'इससे तुम्हारा अभिप्राय क्या है ?'

'मैं प्रतिक्षण अशान्त रहता हूँ, मानो कोई कर्त्तव्य है, जिसे पूरा नहीं कर रहा हूँ।'

'इसका कारण क्या हो सकता है, जानते हो ?'

'जानता, तो आपकी सेवा में क्यों आता ?'

एकाएक स्वामी प्रकाशानन्द को कोई बात याद आ गई। वे हँसकर बोले—'तुम्हारी स्त्री है ?'

'उसकी मृत्यु ही तो संन्यास का कारण हुई थी।'

'माता ?'

'वह भी नहीं।'

'पिता ?'
'वह भी मर चुके हैं।'
'कोई बाल-बच्चा ?'
'हाँ एक बालक है; वह चार वर्ष का होगा'।
'उसका पालन कौन करता है ?'
'मेरा भाई और उसकी स्त्री।'

स्वामी प्रकाशानन्द का मुखमण्डल चमक उठा। हँस कर बोले—'तुम्हारी अशान्ति का कारण मालूम हो गया, हम कल तुम्हारे गाँव चलेंगे।'

विद्यानन्द ने नम्रता से पूछा—'मुझे शान्ति मिल जायगी?'
'अवश्य; परन्तु कल अपने गाँव की तैयारी करो।'

५

पालू के मित्रों में लाला गणपतराय का पुत्र भोलानाथ हाँड़ा बड़ा सज्जन पुरुष था। लखनवाल के लोग उसकी सज्जनता पर लट्टू थे। उसे पालू के साथ प्रेम था। उसके मन की स्वच्छता, उसका भोलापन, उसकी निस्वार्थता पर भोलानाथ तन-मन से न्यौछावर था। जब तक पालू लखनवाल में रहा, भोलानाथ ने सदैव उसकी सहायता की। वे दोनों जोहड़ के किनारे बैठते थे, धर्मशाला में जाकर खेलते, मन्दिर में जाकर कथा सुनते। लोग देखते तो कहते, कृष्ण-सुदामा की जोड़ी है। परन्तु कृष्ण के आदर-सत्कार करने पर भी जब सुदामा ने वन का रास्ता लिया तब कृष्ण को बहुत दुख हुआ। इसके पश्चात् उनको किसी ने खुलकर हँसते नहीं देखा।

भोलानाथ ने पालू का पता लगाने की बड़ी चेष्टा की, परन्तु जब यत्न करने पर भी सफलता न हुई, तब उसके पुत्र सुखदयाल की ओर ध्यान दिया। प्रायः बालकराम के घर

चले जाते और सुखदयाल को गोद में उठा लेते, चूमते, प्यार करते, पैसे देते। कभी-कभी उठाकर घर भी ले जाते। वहाँ उसे दूध भी पिलाते, मिठाई खिलाते और बाहर साथ ले जाते। लोगों से कहते—'यह अनाथ है, इसे देखकर मेरा हृदय वश में नहीं रहता।' उनके पैरों की चाप सुनकर सुखदयाल के चेहरे पर रौनक आ जाती थी। उसके साथ चाचा-चाची घोर निर्दयता का व्यवहार करते और भोलानाथ का उसे प्यार करना तो और भी बुरा लगता था। प्रायः कहा करते, कैसा निर्दयी आदमी है, हमारी कन्याओं के साथ बात भी नहीं करता, कैसी गोरी और सुन्दर हैं, जैसे मक्खन के पेड़े, देखने से भूख मिटती है; परन्तु उसको सुखदयाल के सिवा कोई पसन्द नहीं आता, तो न सही, परन्तु क्या यह भी नहीं हो सकता कि कभी-कभी उनके हाथ पर दो पैसे ही रख दे, जिससे सुखदयाल के सामने उसका हृदय न मुरझा जाय। पर यह बातें भोलानाथ के सामने कहने का उन्हें साहस न होता था। हाँ, उसका क्रोध बेचारे सुखदयाल पर उतरता था, जल नीचे की ओर बहता था। परिणाम यह हुआ कि सुखदयाल सदैव उदास रहने लगा। उसका मुख-कमल मुरझा गया। प्रेम जीवन की धूप है, वह उसे प्राप्त न था। जब कभी भोलानाथ आता, तब उसे पितृ-प्रेम के सुख का अनुभव होने लगता था।

लोहड़ी का दिन था, साँझ का समय। बालकराम के द्वार पर पुरुषों की भीड़ थी, आँगन में स्त्रियों का जमघट। कोई गाती थी, कोई हँसती थी, कोई अग्नि में चावल फेंकती थी; कोई चिड़वे खाती थी। तीन कन्याओं के पश्चात् परमात्मा ने पुत्र दिया था। वह उसकी पहली लोहड़ी थी। बालकराम

और उसकी स्त्री दोनों आनन्द से प्रफुल्लित थे। बड़े समारोह से त्यौहार मनाया जा रहा था। दस रुपये की मक्की उड़ गई चिड़वे और रेवड़ी इसके अतिरिक्त, परन्तु सुखदयाल की ओर किसी का भी ध्यान न था। वह घर से बाहर दीवार के साथ खड़ा लोगों की ओर लुब्ध-दृष्टि से देख रहा था कि एकाएक भोलानाथ ने उसके कन्धों पर हाथ रखकर कहा— 'सुक्खू!'

सूखे धानों में पानी पड़ गया। सुखदयाल ने पुलकित होकर उत्तर दिया—'चाचा!'

'आज लोहड़ी है, तुम्हारी ताई ने तुम्हें क्या दिया ?

'मक्की।'

'और क्या दिया ?'

'और कुछ नहीं।'

'और तुम्हारी बहनों को।'

'मिठाई भी दी, सन्तरे भी दिये, पैसे भी दिये।'

भोलानाथ के नेत्रों में जल भर आया। भर्राये हुए स्वर से बोले—'हमारे घर चलोगे ?'

'चलूँगा।'

'कुछ खाओगे ?'

'हाँ खाऊँगा।'

घर पहुँचकर भोलानाथ ने पत्नी से कहा—'इसे कुछ खाने को दो। भोलानाथ की तरह उनकी पत्नी भी सुखदयाल को बहुत प्यार करती थी। उसने बहुत-सी मिठाई उसके सम्मुख रख दी। सुखदयाल रुचि से खाने लगा। जब खा चुका तो चलने को तैयार हुआ। भोलानाथ ने कहा—'ठहरो इतनी जल्दी काहे की है।'

'ताई मारेगी।'

'क्यों मारेगी?'

'कहेगी, तू चाचा के घर क्यों गया था?'

'तेरी बहनों को भी मार पड़ती है?'

'नहीं, उन्हें प्यार करती है।'

भोलानाथ की स्त्री के नेत्र भर आये। भोलानाथ बोले—'जो मिठाई बची है, वह जेब में डाल ले।'

सुखदयाल ने तृषित नेत्रों से मिठाई की ओर देखा और उत्तर दिया—'न।'

'क्यों?'

'ताई मारेगी और मिठाई छीन लेगी।'

'पहले भी कभी मारा है?'

'हाँ मारा है।'

'कितनी बार मारा है?'

'कई बार मारा है।'

'किस तरह मारा है?'

'चिमटे से मारा है।'

भोलानाथ के हृदय पर जैसे किसी ने हथौड़ा मार दिया। उन्होंने ठण्डी साँस भरी और चुप हो गये। सुखदयाल धीरे-धीरे अपने घर की ओर रवाना हुआ परन्तु उसकी बातें ताई के कानों तक उससे पहले जा पहुँची थीं। उसके क्रोध की कोई सीमा नहीं थी। जब रात्रि अधिक चली गई और गली-मुहल्ले की स्त्रियाँ अपने-अपने घर चली गईं तो उसने सुखदयाल को पकड़कर कहा—'क्यों रे कलमुँहे चाचा से क्या कहता था?'

सुखदयाल का कलेजा काँप गया। डरते-डरते बोला—'कुछ नहीं कहता था।'

'तू तो कहता था, ताई मुझे चिमटे से मारती है।'

बालकराम पास खड़ा था, आश्चर्य से बोला—'अच्छा, अब यह छोकरा हमारी मिट्टी उड़ाने पर आया है।'

सुखदयाल ने आँखों-ही-आँखों ताऊ की ओर देखकर प्रार्थना की कि मुझे इस निर्दयी से बचाओ। परन्तु वहाँ क्रोध बैठा था। आशा ने निराशा का रूप धारण कर लिया। ताई ने कर्कश स्वर से डाँटकर पूछा—

'क्यों बोलता क्यों नहीं ?'

'अब न कहूँगा।'

'अब न कहूँगा, न मरता है, न पीछा छोड़ता है। खाने को देते जाओ जैसे इसके बाप की जागीर पड़ी है।'

यह कहकर उसने पास पड़ा हुआ बेलन उठाया। उसे देखकर सुखदयाल तिलमिला उठा। परन्तु अभी उसके शरीर पर पड़ा न था कि उसकी लड़की दौड़ती हुई आई और कहने लगी—'चाचा आया है।'

सुखदेवी का हृदय काँप गया। वह बैठी थी, खड़ी हो गई और बोली—'कौन-सा चाचा ? गुजरात वाला ?'

'नहीं पालू'

सुखदेवी और बालकराम दोनों स्तम्भित रह गये। जिस प्रकार बिल्ली को सामने देखकर कबूतर सहम जाता है, उसी प्रकार दोनों सहम गये। आज से दो वर्ष पहले जब पालू साधू बनने के लिए विदा होने वाला था, तब सुखदेवी मन में प्रसन्न हुई थी; परन्तु उसने प्रकट ऐसा किया था, मानो उसका हृदय इस समाचार से टुकड़े-टुकड़े हो गया है। उस समय

उसके मन में व्याकुलता थी; परन्तु मुख पर प्रसन्नता की झलक थी। वह जल्दी से बाहर निकली और बोली—'पालू।'

परन्तु वहाँ पालू के स्थान में एक साधू महात्मा खड़े थे, जिनके मुख-मण्डल से तेज की किरणें फूट-फूट कर निकल रही थीं। सुखदेवी के मन को धीरज हुआ; परन्तु एकाएक ख्याल आया, यह तो वही है, वही मुँह, वही आँख, वही रंग, वही रूप; परन्तु कितना परिवर्तन हो गया है। सुखदेवी ने मुस्करा कर कहा, 'स्वामीजी नमस्कार करती हूँ।'

इतने में बालकराम अन्दर से निकला और रोता हुआ स्वामी जी से लिपट गया। स्वामीजी भी रोने लगे; परन्तु वह रोना दुःख का नहीं आनन्द का था। जब हृदय कुछ स्थिर हुआ तो बोला—'भाई, तनिक बाल-बच्चों को तो बुलाओ। देखने को जी तरस गया।'

सुखदेवी अन्दर को चली; परन्तु पाँव मन-मन के भारी हो गये। सोचती थी—यदि बालक सो गये होते, तो कैसा अच्छा होता। सब बातें ढकी रहतीं। अब क्या करूँ, इस बदमाश सुक्खू के वस्त्र इतने मैले हैं कि सामने करने का साहस नहीं पड़ता। आँखें कैसे मिलाऊँगी। रंग में भंग डालने के लिए इसे आज ही आना था। दो वर्ष बाद आया है। इतना भी न हुआ कि पहले पत्र ही लिख देता।

इतने में स्वामी विद्यानन्द अन्दर आ गये। पितृ-वात्सल्य ने लज्जा को दबा लिया था, परन्तु सुखदयाल और भतीजों के वस्त्र तथा उनके रूप-रंग को देखा, तो खड़े के खड़े रह गये। भतीजियाँ ऐसी थीं, जैसे चमेली के फूल और सुक्खू, वही सुक्खू जो कभी मैना के समान चहकता फिरता था जिसकी बातें सुनने के लिए राह जाते लोग खड़े रह जाते

थे, जिसकी नटखटी बातों पर प्यार आता था, अब उदासीनता की मूर्त्ति बना हुआ था। उसका मुँह इस प्रकार कुम्हलाया हुआ था, जिस प्रकार जल न मिलने से वृक्ष कुम्हला जाता है। उसके बाल रूखे थे और मुँह पर दारिद्रय बरसता था। उसके वस्त्र मैले-कुचैले थे, जैसे किसी भिखारी का लड़का हो। स्वामी विद्यानन्द के नेत्रों में आँसू आ गये। सुखदेवी और बालकराम पर घड़ों पानी पड़ गया, खिसियाने से होकर बोले—'कैसा शरारती है, दिन-रात धूल में खेलता है।'

स्वामी विद्यानन्द सब कुछ समझ गये; परन्तु उन्होंने कुछ प्रकट नहीं किया और बोले—'मैं आज अपने पुराने कमरे में सोऊँगा, एक चारपाई डलवा दो।'

रात्रि का समय था। स्वामी विद्यानन्द सुक्खू को लिए अपने कमरे में पहुँचे। पुरानी बातें ज्यों-की-त्यों याद आ गईं। वही कमरा था, जहाँ प्रेम के पाँसे खेले थे। यहीं पर प्रेम के प्याले पिये थे, इसी स्थान पर बैठकर प्रेम का पाठ पढ़ा था। यही वाटिका थी जिसमें प्रेम-पवन के मस्त झोंके चलते थे। कैसा आनन्द था, विचित्र काल था, अद्भुत-वसन्त ऋतु थी; जिसने शिशिर के झोंके कभी देखे ही न थे। आज वह वाटिका उजड़ चुकी थी, प्रेम का राज्य लुट चुका था। स्वामी विद्यानन्द के हृदय में हलचल मच गई।

परन्तु सुक्खू का मुख इस प्रकार चमकता था, जैसे ग्रहण के पश्चात् चन्द्रमा। उसे देखकर स्वामी विद्यानन्द ने सोचा—मैं कैसा मूर्ख हूँ, ताऊ और ताई जब इस पर सख्ती करते होंगे, जब अकारण इसको मारते-पीटते होंगे, जब इसके सामने अपनी कन्याओं से प्यार करते होंगे, उस समय यह

क्या कहता होगा, इसके हृदय में क्या विचार उठते होंगे, यही कि मेरा पिता नहीं है, वह मर गया, नहीं तो मैं इस दशा में क्यों रहता। यह फूल था जो आज धूल में मिला हुआ है। इसके हृदय में धड़कन है, नेत्रों में त्रास है, मुख पर उदासीनता है। वह चञ्चलता जो बच्चों का विशेष गुण है इसमें नाम को नहीं। वह हठ जो बालकों की सुन्दरता है, इससे विदा हो चुका है। यह बाल्यावस्था ही में वृद्धों की नाईं गम्भीर बन गया है। इस अनर्थ का उत्तरदायित्व मेरे सिर है, जो इसे यहाँ छोड़ गया, नहीं तो इस दशा में क्यों पहुँचता। इन्हीं विचारों में झपकी आ गई, तो यह क्या देखते हैं कि वही हृषीकेश का पर्वत है, वही कन्दरा। उसमें देवी की मूर्त्ति है और वे उसके सम्मुख खड़े रो-रोकर कह रहे हैं—माता, दो वर्ष व्यतीत हो गये, अभी तक शान्ति नहीं मिली। क्या यह जीवन रोने ही में बीत जायगा ?

एकाएक ऐसा प्रतीत हुआ जैसे पत्थर की मूर्त्ति के होंठ हिलते हैं। स्वामी विद्यानन्द ने अपने कान उधर लगा दिये। आवाज आई—'तू क्या माँगता है, यश ?'

'नहीं मुझे उसकी आवश्यकता नहीं।'

'तो फिर जगत् दिखावा क्यों करता है ?'

'मुझे शान्ति चाहिए।'

'शान्ति के लिए सेवा-मार्ग की आवश्यकता है। पर्वत छोड़ और नगर में जा। जहाँ दुखी जन रहते हैं, उनके दुख दूर कर। किसी के घाव पर फाहा रख, किसी के टूटे हुए मन को धीरज बँधा, परन्तु यह रास्ता भी तेरे लिए उपयुक्त नहीं!

तेरा पुत्र है, तू उसकी सेवा कर। तेरे मन को शान्ति प्राप्त होगी।'

यह सुनते ही स्वामीजी के नेत्रों से पर्दा हट गया। जागे तो वास्तविक भेद उन पर खुल चुका था कि मन की शान्ति कर्त्तव्य के पालन से मिलती है। उन्होंने सुखदयाल को जोर से गले लगाया और उसके रूखे मुँह को चूम लिया।

५

रानी सारन्धा

श्री प्रेमचन्द

[आपका शुभ नाम मुन्शी धनपतराय जी था। आप बनारस के रहने वाले थे। बी० ए० तक आपने शिक्षा प्राप्त की थी और आपकी शिक्षा की भाषा उर्दू थी। प्रारम्भ में आप उर्दू में ही लिखते थे। उर्दू में आप सर्वश्रेष्ठ कहानीकार थे। आपने हिन्दी को उपन्यास तथा कहानियाँ के रूप में जो साहित्य प्रदान किया है वह अजर और अमर है। आपकी कृतियों का भारत की प्रायः प्रत्येक भाषा में अनुवाद हो चुका है। आपकी भाषा के साथ ही सूक्तियों तथा मुहाविरे प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। आपकी प्रत्येक कहानी में कोई न कोई आदर्श अवश्य झाँकता रहता है। पाठकों की रुचि का आपको पूर्ण परिज्ञान था और इसीलिए आपका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नितान्त सत्य है। उपन्यासों में आपने जो स्थान-स्थान पर उच्च भावनाओं तथा सत्यों का सूक्ष्म निरीक्षण किया है वह हिन्दी के समालोचक श्री रामचन्द्रजी शुक्ल का स्मरण दिलाता है। प्रस्तुत कहानी में आपने भारत की वीराङ्गनाओं का उज्ज्वल चरित्र आदर्श रूप में रखा है और उनको अपनी आन पर मर मिटने वाला चित्रित किया है।]

अँधेरी रात के सन्नाटे में धसान नदी चट्टानों से टकराती हुई ऐसी सुहावनी मालूम होती थी जैसे घुमुर-घुमुर करती हुई

चक्कियाँ। नदी में दाहने तट पर एक टीला है। उस पर पुराना दुर्ग बना हुआ है, जिसको जंगली वृक्षों ने घेर रखा है। टीले के पूर्व की ओर एक छोटा-सा गाँव है। यह गढ़ी और गाँव दोनों एक बुन्देला सरदार के कीर्ति-चिह्न हैं। शताब्दियाँ व्यतीत हो गईं, बुन्देलखण्ड में कितने ही राज्यों का उदय और अस्त हुआ, मुसलमान आये और गये, बुन्देला राजा उठे और गिरे, कोई गाँव, कोई इलाका ऐसा न था, जो इन दुर्व्यवस्थाओं से पीड़ित न हो, मगर इस दुर्ग पर किसी शत्रु की विजय-पताका न लहराई और इस गाँव में किसी विद्रोह का भी पदार्पण न हुआ। यह उसका सौभाग्य था।

अनिरुद्धसिंह वीर राजपूत था। वह जमाना ही ऐसा था, जब मनुष्य मात्र को अपने बाहु-बल और पराक्रम ही का भरोसा था। एक ओर मुसलमान सेनाएँ पैर जमाये खड़ी रहती थीं, दूसरी ओर बलवान् राजा अपने निर्बल भाइयों का गला काटने पर तत्पर रहते थे। अनिरुद्धसिंह के पास सवारों और पियादों का एक छोटा-सा, मगर सजीव दल था। इससे वह अपने कुल और मर्यादा की रक्षा किया करता था। उसे कभी चैन से बैठना नसीब न होता था। तीन वर्ष पहले उसका विवाह शीतलादेवी से हुआ। मगर अनिरुद्ध विहार के दिन और विलास की रातें पहाड़ों में काटता था और शीतला उसकी जान की खैर मनाने में। वह कितनी बार पति से अनुरोध कर चुकी थी, कितनी बार उसके पैरों पर गिरकर रोई थी कि तुम मेरी आँखों से दूर न हो, मुझे हरिद्वार ले चलो। मुझे तुम्हारे साथ वन-वास अच्छा है, यह वियोग नहीं सहा जाता। उसने प्यार से कहा, जिद से कहा, विनय की, मगर

अनिरुद्ध बुन्देल था, शीतला अपने किसी हथियार से उसे परास्त न कर सकी।

२

अँधेरी रात थी। सारी दुनिया सोती थी; मगर तारे आकाश में जागते थे। शीतलादेवी पलंग पर करवटें बदल रही थी और उसकी ननद सारन्धा फर्श पर बैठी हुई मधुर स्वर में गाती थी।

'बिन रघुवर कटत नहीं रैन।'

शीतला ने कहा—जी न जलाओ। क्या तुम्हें भी नींद नहीं आती?

सारन्धा—तुम्हें लोरी सुना रही हूँ।

शीतला—मेरी आँखों से तो नींद ही लोप हो गई।

सारन्धा—किसी को ढूँढ़ने गई होगी।

इतने में द्वार खुला और एक गठे हुए बदन के रूपवान पुरुष ने भीतर प्रवेश किया। यह अनिरुद्ध था। उसके कपड़े भीगे हुए थे और बदन पर कोई हथियार न था। शीतला चारपाई से उतर कर जमीन पर बैठ गई।

सारन्धा ने पूछा—भैया, यह कपड़े भीगे क्यों हैं?

अनिरुद्ध—नदी तैरकर आया हूँ।

सारन्धा—हथियार क्या हुए?

अनिरुद्ध—छिन गये।

सारन्धा—और साथ के आदमी?

अनिरुद्ध—सब ने वीर गति पाई।

शीतला ने दबी जबान से कहा—ईश्वर ने ही कुशल किया""मगर सारन्धा के तेवरों पर बल पड़ गये और मुख-

मण्डल गर्व से सतेज हो गया। बोली—भैया, कुल की मर्यादा खो दी। ऐसा कभी नहीं हुआ था।

सारन्धा भाई पर जान देती थी। उसके मुँह से वह धिक्कार सुनकर अनिरुद्ध लज्जा और खेद से विकल हो गया। वह वीराग्नि जिसे क्षण भर के लिए अनुराग ने दबा दिया था, फिर ज्वलन्त हो गई। वह उल्टे पाँव लौटा और यह कह कर बाहर चला गया कि 'सारन्धा, तुमने मुझे सदैव के लिए सचेत कर दिया। यह बात मुझे कभी न भूलेगी।'

अँधेरी रात थी। आकाश-मण्डल में तारों का प्रकाश बहुत धुँधला था। अनिरुद्ध किले से बाहर निकला। पलभर में नदी के उस पार जा पहुँचा, और फिर अन्धकार में लुप्त हो गया। शीतला उसके पीछे-पीछे किले की दीवारों तक आई; मगर जब अनिरुद्ध छलाँग मारकर बाहर कूद पड़ा तो वह विरहिणी एक चट्टान पर बैठ कर रोने लगी।

इतने में सारन्धा भी वहाँ आ पहुँची। शीतला ने नागिन की तरह बल खाकर कहा—मर्यादा इतनी प्यारी है?

सारन्धा—हाँ!

शीतला—अपना पति होता तो हृदय में छिपा लेतीं?

सारन्धा—न, छाती में छुरी चुभा देती।

शीतला ने ऐंठकर कहा—डोली में छिपाती फिरोगी, मेरी बात गिरह में बाँध लो।

सारन्धा—जिस दिन ऐसा होगा मैं भी अपना वचन पूरा कर दिखाऊँगी।

इस घटना के तीन महीने पीछे अनिरुद्ध महरौना को जीत कर के लौटा और साल-भर पीछे सारन्धा का विवाह

ओरछा के राजा चम्पतराय से हो गया। मगर उस दिन की बातें दोनों महिलाओं के हृदय-स्थल में काँटे की तरह खटकती रहीं।

३

राजा चम्पतराय बड़े प्रतिभाशाली पुरुष थे। सारी बुन्देला जाति उनके नाम पर जान देती थी और उनके प्रभुत्व को मानती थी। गद्दी पर बैठते ही उसने मुग़ल बादशाहों को कर देना बन्द कर दिया और अपने बाहुबल से राज्य-विस्तार करने लगा। मुसलमानों की सेनाएँ बार-बार उस पर हमले करती थीं, पर हार कर लौट जाती थीं।

यही समय था, जब अनिरुद्ध ने सारन्धा का चम्पतराय से विवाह कर दिया। सारन्धा ने मुँह माँगी मुराद पाई। उसकी यह अभिलाषा कि मेरा पति बुँदेला जाति का कुल-तिलक हो, पूरी हुई। यद्यपि राजा के रनिवास में पाँच रानियाँ थीं, मगर उन्हें शीघ्र मालूम हो गया कि वह देवी जो हृदय में मेरी पूजा करती है, सारन्धा है।

परन्तु कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं कि चम्पतराय को मुग़ल बादशाह का आश्रित होना पड़ा। वह अपना राज्य अपने भाई पहाड़सिंह को सौंपकर आप देहली को चला गया। यह शाहजहाँ के शासन काल का अन्तिम भाग था। शाहजादा दाराशिकोह राजकीय कार्यों को सँभालते थे। युवराज की आँखों में शील था और चित्त में उदारता। उन्होंने चम्पतराय की वीरता की कथाएँ सुनी थीं, इसलिए उसका बहुत आदर-सम्मान किया और कालपी की बहुमूल्य जागीर उसको भेंट की, जिसकी आमदनी नौ लाख थी। यह पहला अवसर था कि चम्पतराय को आये-दिन की लड़ाई-झगड़े से निवृत्ति

मिली और उसके साथ ही भोग-विलास का प्राबल्य हुआ। रात-दिन आमोद-प्रमोद की चर्चा रहने लगी। राजा विलास में डूबे, रानियाँ जड़ाऊ गहनों पर रीझीं। मगर सारन्धा इन दिनों बहुत उदास और संकुचित रहती। वह रहस्यों से दूर-दूर रहती, ये नृत्य और गान की सभाएँ उसे सूनी प्रतीत होतीं।

एक दिन चम्पतराय ने सारन्धा से कहा—सारन, तुम उदास क्यों रहती हो? तुम्हें कभी हँसते नहीं देखता। क्या मुझ से नाराज हो?

सारन्धा की आँखों में जल भर आया। बोली—स्वामी जी आप क्यों ऐसा विचार करते हैं? जहाँ आप प्रसन्न हैं, वहाँ मैं भी खुश हूँ।

चम्पतराय—मैं जब से यहाँ आया हूँ, मैंने तुम्हारे मुख-कमल पर कभी मनोहारिणी मुस्कराहट नहीं देखी। तुमने कभी अपने हाथों से मुझे बीड़ा नहीं खिलाया। कभी मेरी पाग नहीं सँवारी, कभी मेरे शरीर पर शस्त्र नहीं सजाये। कहीं प्रेमलता मुरझाने तो नहीं लगी?

सारन्धा—प्राणनाथ! आप मुझसे वे बातें पूछते हैं, जिनका उत्तर मेरे पास नहीं! यथार्थ में इन दिनों मेरा चित्त कुछ उदास रहता है। मैं बहुत चाहती हूँ कि खुश रहूँ, मगर एक बोझ-सा हृदय पर धरा रहता है।

चम्पतराय स्वयं आनन्द में मग्न थे, इसलिए उनके विचार में सारन्धा का असन्तुष्ट रहने का कोई उचित कारण नहीं हो सकता था। वे भौंहें सिकोड़ कर बोले—मुझे तुम्हारे उदास रहने का कोई विशेष कारण नहीं मालूम होता। ओरछे में कौन-सा सुख था, जो यहाँ नहीं है? सारन्धा का

चेहरा लाल हो गया। बोली—मैं कुछ कहूँ, आप नाराज तो न होंगे ?

चम्पतराय—नहीं, शौक से कहो।

सारन्धा—ओरछा में मैं एक राजा की रानी थी। यहाँ मैं एक जागीरदार की चेरी हूँ! ओरछा में मैं वह थी जो अवध में कौशल्या थी, परन्तु यहाँ मैं बादशाह के एक सेवक की स्त्री हूँ। जिस बादशाह के सामने आज आप आदर से सिर झुकाते हैं, वह कल आप के नाम से काँपता था। रानी से चेरी होकर भी प्रसन्न-चित्त होना मेरे वश में नहीं है। आपने यह पद और ये विलास की सामग्रियाँ बड़े मँहगे दाम में मोल ली हैं।

चम्पतराय के नेत्रों से एक पर्दा-सा हट गया। वे अब तक सारन्धा की आत्मिक उच्चता को न जानते थे। जैसे वे माँ-बाप का बालक माँ की चर्चा सुनकर रोने लगता है, उसी तरह ओरछा की याद से चम्पतराय की आँखें सजल हो गईं। उन्होंने आदर युक्त अनुराग के साथ सारन्धा को हृदय से लगा लिया।

आज से उन्हें फिर उजड़ी बस्ती की फिक्र हुई, जहाँ से धन और कीर्ति की अभिलाषाएँ खींच लाई थीं।

४

माँ अपने खोये हुए बालक को पाकर निहाल हो जाती है। चम्पतराय के आने से बुन्देलखण्ड निहाल हो गया। ओरछा के भाग जागे। नौबतें झड़ने लगीं और फिर सारन्धा के कमल-नेत्रों में जातीय अभिमान का आभास दिखाई देने लगा।

यहाँ रहते कई महीने बीत गये। इसी बीच में शाहजहाँ बीमार पड़ा। शाहजादों में पहले से ही ईर्ष्या की अग्नि

दहक रही थी। यह खबर सुनते ही ज्वाला प्रचण्ड हुई। संग्राम की तैयारियाँ होने लगीं। शाहज़ादा मुराद और मुहीउद्दीन अपने-अपने दल सजाकर दक्खिन से चले। वर्षा के दिन थे। उर्वरा भूमि रंग-विरंग के रूप भर कर अपने सौन्दर्य को दिखाती थी।

मुराद और मुहीउद्दीन उमंगों से भरे हुए कदम बढ़ाते चले आते थे। यहाँ तक कि वे धौलपुर के निकट चम्बल के तट पर आ पहुँचे; परन्तु यहाँ उन्होंने बादशाही सेना को अपने शुभागमन के निमित्त तैयार पाया।

शाहज़ादे अब बड़ी चिन्ता में पड़े। सामने अगम्य नदी लहर मार रही थी, लोभ से भी अधिक विस्तार वाली। घाट पर लोहे की दीवाल खड़ी थी किसी योगी के त्याग के सदृश सुदृढ़। विवश होकर चम्पतराय के पास सन्देशा भेजा कि खुदा के लिये आकर हमारी डूबती नाव को पार लगाइए।

राजा ने भवन में जाकर सारन्धा से पूछा—इसका क्या उत्तर दूँ?

सारन्धा—आप को मदद करनी होगी।

चम्पतराय—उनकी मदद करना दाराशिकोह से वैर लेना है।

सारन्धा—यह सत्य है; परन्तु हाथ फैलाने की मर्यादा भी तो निभानी चाहिए।

चम्पतराय—प्रिये! तुमने सोचकर जवाब नहीं दिया।

सारन्धा—प्राणनाथ! मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि यह मार्ग कठिन है और हमें अपने योद्धाओं का रक्त पानी के समान बहाना पड़ेगा; परन्तु हम अपना रक्त बहायेंगे और

चम्बल नदी की लहरों को लाल कर देंगे। विश्वास रखिए कि जब तक नदी की धारा बहती रहेगी, वह हमारे वीरों का कीर्ति-गान करती रहेगी। जब तक बुन्देलों का एक भी नाम लेवा रहेगा, यह रक्त-बिन्दु उसके माथे पर केशर का तिलक बनकर चमकेगा।

वायुमण्डल में मेघराज की सेनाएँ उमड़ रही थीं। ओरछे के किले से बुन्देलों की एक काली घटा उठी और वेग के साथ चम्बल की तरफ चली। प्रत्येक सिपाही वीर-रस से झूम रहा था। सारन्धा ने दोनों राजकुमारों को गले से लगा लिया और राजा को पान का बीड़ा देकर कहा—बुन्देलों की लाज अब तुम्हारे हाथ है।

आज उसका एक-एक अंग मुसकरा रहा है और हृदय हुलसित है। बुन्देलों की यह सेना देखकर शाहजादे फूले न समाये। राजा वहाँ की अंगुल-अंगुल भूमि से परिचित थे। उन्होंने बुन्देलों को तो एक आड़ में छिपा दिया और वे शाहजादों की फौज को सजाकर नदी के किनारे-किनारे पश्चिम की ओर चले। दाराशिकोह को भ्रम हुआ कि शत्रु किसी अन्य घाट से नदी उतरना चाहता है। उन्होंने घाट पर से मोर्चे हटा लिये। घाट में बैठे हुए बुन्देल इसी ताक में थे। बाहर निकल पड़े और तुरन्त ही नदी में घोड़े डाल दिये। चम्पतराय ने शाहजादा दाराशिकोह को भुलावा देकर अपनी फौज घुमा दी और वह बुन्देलों के पीछे चलता हुआ उसे उतार लाया। इस कठिन चाल में सात घंटे का विलम्ब हुआ; परन्तु जाकर देखा तो सात सौ बुन्देला योद्धाओं की लाशें फड़क रही थीं।

राजा को देखते ही बुन्देलों की हिम्मत बँध गई।

शाहज़ादों की सेना ने भी 'अल्लाहो-अकबर' की ध्वनि के साथ धावा किया। बादशाही सेना में हलचल मच गई। उनकी पंक्तियाँ छिन्न-भिन्न हो गईं, हाथों-हाथ लड़ाई होने लगी, यहाँ तक कि शाम हो गई। रण-भूमि रुधिर से लाल हो गई और आकाश में अँधेरा हो गया। घमासान की मार हो रही थी। बादशाही सेना शाहजादों को दबाये आती थी। अकस्मात् पश्चिम से फिर बुन्देलों की एक लहर उठी और इस वेग से बादशाही सेना की पुश्त पर टकराई कि उसके कदम उखड़ गये। जीता हुआ मैदान हाथ से निकल गया लोगों को कौतूहल था कि यह दैवी सहायता कहाँ से आई। सरल स्वभाव के लोगों की धारणा थी कि यह फतह के फरिश्ते हैं, शाहजादों की मदद के लिए आये हैं; परन्तु जब राजा चम्पतराय निकट गये, तो सारन्धा ने घोड़े से उतर कर उनके पद पर सिर झुका दिया। राजा को असीम आनन्द हुआ। यह सारन्धा थी।

समर-भूमि का दृश्य इस समय अत्यन्त दुःखमय था। थोड़ी देर पहले जहाँ सजे हुए वीरों के दल थे, वहाँ अब बे-जान लाशें फड़क रही थीं। मनुष्य ने अपने स्वार्थ के लिए आदि से ही भाइयों की हत्या की है।

अब विजयी सेना लूट पर टूटी। पहले मर्द मर्दों से लड़ते थे, अब वे मुर्दों से लड़ रहे थे। वह वीरता और पराक्रम का चित्र था, यह नीचता और दुर्बलता की ग्लानि-प्रद तसवीर थी, उस समय मनुष्य पशु बना हुआ था, अब वह पशु से भी बढ़ गया है।

इस नोच-खसोट में लोगों को बादशाही सेना के सेनापति बली बहादुरखाँ की लाश दिखाई दी, उसके निकट उसका घोड़ा खड़ा हुआ अपनी दुम से मक्खियाँ उड़ा रहा था, राजा

को घोड़ों का शौक था। देखते ही वह उस पर मोहित हो गया। वह ईराकी जाति का अति सुन्दर घोड़ा था। एक-एक अंग साँचे में ढला हुआ, सिंह की-सी छाती, चीते की-सी कमर। उसका यह प्रेम और स्वामिभक्ति देखकर लोगों को बड़ा कौतूहल हुआ। राजा ने हुक्म दिया—खबरदार! इस प्रेमी पर कोई हथियार न चलाये, इसे जीता पकड़ लो, यह मेरे अस्तबल की शोभा बढ़ायेगा। जो इसे मेरे पास लायेगा—उसे धन से निहाल कर दूँगा।

योद्धागण चारों ओर से लपके, परन्तु किसी को साहस न होता था कि उसके निकट जा सके। कोई चुमकारता था, कोई फन्दे में फँसाने की फिक्र में था, पर कोई उपाय सफल न होता था। वहाँ सिपाहियों का एक मेला-सा लगा हुआ था।

तब सारन्धा अपने खेमे से निकली और निर्भय होकर घोड़े के पास चली गई। उसकी आँखों में प्रेम का प्रकाश था, छल का नहीं। घोड़े ने सिर झुका दिया। रानी ने उसकी गर्दन पर हाथ रखा और उसकी पीठ सुहलाने लगी। घोड़े ने उसके आँचल में मुँह छिपा लिया। रानी उसकी रास पकड़ कर खेमे की ओर चली। घोड़ा इस तरह चुपचाप उसके पीछे चला, मानो, सदैव से उसका सेवक है।

५

पर बहुत अच्छा होता कि घोड़े ने सारन्धा से भी निष्ठुरता की होती। यह सुन्दर घोड़ा आगे चलकर इस राज्य-परिवार के निमित्त रत्न-जटित मृग प्रतीत हुआ।

संसार एक रण-क्षेत्र है। इस मैदान में उसी सेनापति को विजय-लाभ होता है, जो अवसर को पहचानता है। वह अवसर देखकर जितने-उत्साह से बढ़ता है, उतने ही उत्साह

से आपत्ति के समय पर पीछे हट जाता है। वह वीर पुरुष राष्ट्र का निर्माता होता है, और इतिहास उसके नाम पर यश के फूलों की वर्षा करता है।

पर इस मैदान में कभी-कभी ऐसे सिपाही भी आ जाते हैं, जो अवसर पर कदम बढ़ाना चाहते हैं, लेकिन सङ्कट में पीछे हटना नहीं जानते। वह रणधीर पुरुष विजय को नीति की भेंट कर देता है। वह अपनी सेना का नाम मिटा देगा, किन्तु जहाँ पर एक बार पहुँच गया है, वहाँ से कदम पीछे न हटायेगा। उनमें कोई विरला ही संसार क्षेत्र में विजय प्राप्त करता है, किन्तु प्रायः उसकी हार विजय से भी गौरवात्मक होती है। अगर वह अनुभवशील सेनापति राष्ट्रों की नींव डालता है, तो यह आप जान देने वाला, यह मुँह न मोड़ने वाला सिपाही राष्ट्र के भावों को उच्च करता है और उसके हृदय पर नैतिक गौरव को अङ्कित कर देता है। उसे इस कार्य-क्षेत्र में चाहे सफलता न हो, किन्तु जब किसी वाक्य या सभा में उसका नाम जबान पर आ जाता है, तो श्रोतागण एक स्वर से उसके कीर्ति-गौरव को प्रतिध्वनित कर देते हैं। सारन्धा इन्हीं आन पर जान देने वालों में थी।

शाहजादा मुहीउद्दीन चम्बल के किनारे से आगरे की ओर चला तो सौभाग्य उसके सिर पर मोर्छल हिलाता था, जब वह आगरे पहुँचा तो विजयदेवी ने उसके लिए सिंहासन सजा दिया।

औरङ्गजेब गुणज्ञ था। उसने बादशाही सरदारों के अपराध क्षमा कर दिये, उनके राज्य-पद लौटा दिये और राजा चम्पतराय को उनके बहुमूल्य कृत्यों के उपलक्ष्य में 'बारह

हज़ारी मन्सब' प्रदान किया। ओरछा से बनारस और बनारस से यमुना तक उसकी जागीर नियत की गई। बुन्देला राजा फिर राज्य-सेवक बना। वह फिर सुख-विलास में डूबा और रानी सारन्धा फिर पराधीनता के शोक से घुलने लगी।

वली बहादुरखाँ बड़ा वाक् चतुर मनुष्य था। उसकी मृदुलता ने शीघ्र ही उसे बादशाह आलमगीर का विश्वास-पात्र बना दिया। उस पर राज-सभा में सम्मान की दृष्टि पड़ने लगी।

खाँ साहब के मन में अपने घोड़े के हाथ से निकल जाने का बड़ा शोक था। एक दिन कुँवर छत्रसाल उसी घोड़े पर सवार होकर सैर को गया था। वह खाँ साहब के महल की तरफ जा निकला। वलीबहादुर ऐसे ही अवसर की ताक में था। उसने तुरन्त अपने सेवकों को इशारा किया। राजकुमार अकेला क्या करता। पाँव-पाँव घर आया और उसने सारन्धा से सब समाचार बयान किया। रानी का चेहरा तमतमा गया। बोली—'मुझे इसका अधिक शोक नहीं कि घोड़ा हाथ से गया; शोक इसका है कि तू उसे खोकर जीता क्यों लौटा; क्या तेरे शरीर में बुन्देलों का रक्त नहीं है? घोड़ा न मिलता, न सही; किन्तु तुझे दिखा देना चाहिये था कि एक बुन्देला-बालक से उसका घोड़ा छीन लेना हँसी नहीं है।'

यह कहकर उसने अपने पचीस योद्धाओं को तैयार होने की आज्ञा दी, स्वयं अस्त्र धारण किये और योद्धाओं के साथ वली बहादुरखाँ के निवास-स्थान पर जा पहुँची। खाँ साहब उसी घोड़े पर सवार होकर दरबार चले गये थे। सारन्धा दरबार की तरफ चली और एक क्षण में किसी वेगवती नदी

के सदृश बादशाही दरबार के सामने जा पहुँची। यह कैफियत देखते ही दरबार में हलचल मच गई, अधिकारी वर्ग इधर-उधर से आकर जमा हो गये। आलमगीर भी सहन से निकल आये। लोग अपनी-अपनी तलवारें संभालने लगे और चारों तरफ शोर मच गया। कितने ही नेत्रों ने इसी दरबार में अमरसिंह की तलवार की चमक देखी थी। उन्हें वही घटना फिर याद आगई।

सारन्धा ने उच्च स्वर से कहा—खाँ साहब! बड़ी लज्जा की बात है कि आपने वह वीरता जो चम्बल के तट पर दिखानी चाहिए थी, आज एक अबोध बालक के सम्मुख दिखाई है। क्या यह उचित था कि आप घोड़ा छीन लेते?

वली बहादुरखाँ की आँखों से अग्नि-ज्वाला निकल रही थी। वे कड़ी आवाज से बोले—किसी गैर को क्या मजाल है कि मेरी चीज अपने काम में लाये?

सारन्धा—यह आपकी चीज नहीं, मेरी है। मैंने उसे रण-भूमि में पाया है और मेरा उस पर अधिकार है। क्या रणनीति की इतनी मोटी बात भी नहीं जानते?

खाँ साहब—वह घोड़ा मैं नहीं दे सकता, उसके बदले में सारा अस्तबल आपको नजर है।

रानी—मैं अपना घोड़ा ले लूँगी।

खाँ साहब—मैं उसके बराबर जवाहरात दे सकता हूँ। परन्तु घोड़ा नहीं दे सकता।

रानी—तो फिर इसका निश्चय तलवारों से होगा।

बुन्देला योद्धाओं ने तलवारें सौंत ली और निकट था कि दरबार की भूमि रक्त से प्लावित हो जाय कि बादशाह

आलमगीर ने बीच में आकर कहा—रानी साहबा! आप सिपाहियों को रोकें। घोड़ा आपको मिल जायेगा, परन्तु उसका मूल्य बहुत देना पड़ेगा।

रानी—मैं उसके लिए अपना सर्वस्व त्यागने पर तैयार हूँ।

बादशाह—जागीर और मनसब भी?

रानी—जागीर और मनसब कोई चीज नहीं।

बादशाह—अपना राज्य भी?

रानी—हाँ, राज्य भी।

बादशाह—एक घोड़े के लिए?

रानी—नहीं उस पदार्थ के लिए, जो संसार में सबसे अधिक मूल्यवान् है।

बादशाह—वह क्या है?

रानी—अपनी आन।

इस भाँति रानी ने एक घोड़े के लिए अपनी विस्तृत जागीर, उच्च राज्य-पद और राज्य सम्मान सब हाथ से खोया और केवल इतना ही नहीं, भविष्य के लिए काँटे बोये। इस घड़ी से अन्त दशा तक चम्पतराय को शान्ति न मिली।

६

राजा चम्पतराय ने फिर ओरछे के किले में पदार्पण किया। उन्हें मनसब और जागीर के हाथ से निकल जाने का अत्यन्त शोक हुआ; किन्तु उन्होंने अपने मुँह से शिकायत का एक शब्द भी नहीं निकाला। वे सारन्धा के स्वभाव को भली भाँति जानते थे। शिकायत इस समय उसके आत्म गौरव पर कुठार का काम करती। कुछ दिन यहाँ शान्ति पूर्वक व्यतीत हुए, लेकिन बादशाह सारन्धा की कठोर बातें भूला न था।

वह क्षमा करना जानता ही न था। ज्यों ही भाइयों की ओर से निश्चिन्त हुआ, उसने एक बड़ी सेना चम्पतराय का गर्व चूर्ण करने के निमित्त भेजी और बाईस अनुभवशील सरदार इस मुहीम पर नियुक्त किये। शुभकरण बुन्देला बादशाह का सूबेदार था। वह चम्पतराय का बचपन का मित्र और सहपाठी था। उसने चम्पतराय को परास्त करने का बीड़ा उठाया और भी कितने ही बुन्देला सरदार राजा से विमुख होकर बादशाही सूबेदार से आ मिले। एक घोर संग्राम हुआ। भाइयों की तलवारें रक्त से लाल हुईं। यद्यपि इस समर में राजा को विजय प्राप्त हुई; लेकिन उनकी शक्ति सदा के लिए क्षीण हो गई। निकटवर्ती बुन्देला राजा जो चम्पतराय के बाहु-बल थे, बादशाह के कृपाकाँक्षी बन बैठे। साथियों में कुछ तो काम आये, कुछ दगा कर गये। यहाँ तक कि निज सम्बन्धियों ने भी आँखें चुरा लीं; परन्तु इन कठिनाइयों में भी चम्पतराय ने हिम्मत नहीं हारी। धीरज को न छोड़ा। उन्होंने ओरछा छोड़ दिया और तीन वर्ष तक बुन्देलखण्ड के सघन पर्वतों पर छिपे फिरते रहे, बादशाही सेनाएँ शिकारी जानवरों की भाँति सारे देश में मँडरा रही थीं। आये-दिन राजा का किसी-न-किसी से सामना हो जाता था। सारन्धा सदैव उनके साथ रहती और उनका उत्साह बढ़ाया करती। बड़ी-बड़ी आपत्तियों में भी, जब कि धैर्य लुप्त हो जाता—और आशा साथ छोड़ देती—आत्म-रक्षा का धर्म उसे संभाले रहता था। तीन साल के बाद अन्त में बादशाह के सूबेदारों ने आलमगीर को सूचना दी कि इस शेर का शिकार आपके सिवाय और किसी से न होगा। उत्तर आया कि सेना को हटा लो और घेरा उठा लो।

राजा ने समझा, संकट से निवृत्ति हुई, पर यह बात शीघ्र ही भ्रमात्मक सिद्ध हो गई।

७

तीन सप्ताह से बादशाही सेना ने ओरछा को घेर रखा है। जिस तरह कठोर वचन हृदय को छेद डालते हैं, उसी तरह तोपों के गोलों ने दीवारों को छेद डाला है। किले में २० हजार आदमी घिरे हुए हैं, लेकिन उनमें आधे से अधिक स्त्रियाँ और उनसे कुछ ही कम बालक हैं। मर्दों की संख्या दिनों-दिन न्यून होती जाती है, आने-जाने के मार्ग चारों तरफ से बन्द हैं। हवा का भी गुजर नहीं। रसद का सामान बहुत कम रह गया है। स्त्रियाँ पुरुषों और बालकों को जीवित रखने के लिए आप उपवास करती हैं। लोग बहुत हताश हो रहे हैं। औरतें सूर्यनारायण की ओर हाथ उठा-उठा कर शत्रु को कोसती हैं। बालकवृन्द मारे क्रोध के दीवारों की आड़ से उन पर पत्थर फेंकते हैं, जो मुश्किल से दीवार के उस पार जाते हैं। राजा चम्पतराय स्वयं ज्वर से पीड़ित हैं। उन्होंने कई दिन से चारपाई नहीं छोड़ी। उन्हें देखकर लोगों को कुछ ढाढस होता था; लेकिन उनकी बीमारी से सारे किले में नैराश्य छाया हुआ है।

राजा ने सारन्धा से कहा—आज शत्रु जरूर किले में घुस आयेंगे।

सारन्धा—ईश्वर न करे कि इन आँखों से वह दिन देखना पड़े।

राजा—मुझे बड़ी चिन्ता इन अनाथ स्त्रियों और बालकों की है। गेहूँ के साथ यह घुन भी पिस जायेंगे।

सारन्धा—हम लोग यहाँ से निकल जायें, तो कैसा?

राजा—इन अनाथों को छोड़ कर ?

सारन्धा—इस समय इन्हें छोड़ देने ही में कुशल है। हम न होंगे, तो शत्रु इन पर कुछ दया अवश्य करेंगे।

राजा—नहीं यह लोग मुझ से न छोड़े जायेंगे। जिन मर्दों ने अपनी जान हमारी सेवा में अर्पण करदी है, उनकी स्त्रियों और बच्चों को मैं कदापि नहीं छोड़ सकता।

सारन्धा—लेकिन यहाँ रहकर हम उनकी मदद भी तो नहीं कर सकते।

राजा—उनके साथ प्राण तो दे सकते हैं ? मैं उनकी रक्षा में अपनी जान लड़ा दूँगा। उनके लिए बादशाही सेना की खुशामद करूँगा। कारावास की कठिनाइयाँ सहूँगा; किन्तु इस संकट में उन्हें छोड़ नहीं सकता।

सारन्धा ने लज्जित होकर सिर झुका लिया और सोचने लगी—निस्सन्देह अपने प्रिय साथियों को आग की आँच में छोड़ कर अपनी जान बचाना घोर नीचता है। मैं ऐसी स्वार्थान्ध क्यों हो गई हूँ ? लेकिन फिर एकाएक विचार उत्पन्न हुआ। बोली—यदि आप को विश्वास हो जाय कि इन आदमियों के साथ कोई अन्याय न किया जायगा, तब तो आप को चलने में कोई बाधा न होगी।

राजा—(सोचकर) कौन विश्वास दिलायेगा ?

सारन्धा—बादशाह के सेनापति का प्रतिज्ञापत्र।

राजा—तब मैं सानन्द चलूँगा।

सारन्धा विचार-सागर में डूबी। बादशाह के सेनापति से क्योंकर यह प्रतिज्ञा कराऊँ ? कौन यह प्रस्ताव लेकर वहाँ जायगा और वे निर्दयी ऐसी प्रतिज्ञा करने ही क्यों लगे ? उन्हें तो अपनी विजय की पूरी आशा है, मेरे यहाँ

ऐसा नीति-कुशल, वाकपटु, चतुर कौन है, जो इस दुस्तर कार्य को सिद्ध करे। छत्रसाल चाहे तो कर सकता है। उसमें ये सब गुण मौजूद हैं।

इस तरह मन में निश्चित करके रानी ने छत्रसाल को बुलवाया। यह उसके चारों पुत्रों में सबसे बुद्धिमान् और साहसी था। रानी उसे सवसे अधिक प्यार करती थी। जब छत्रसाल ने आकर रानी को प्रणाम किया, तो उसके कमलनेत्र सजल हो गये और हृदय से दीर्घ निःश्वास निकल आया।

छत्रसाल—माता मेरे लिए क्या आज्ञा है?

रानी—आज लड़ाई का क्या ढङ्ग है?

छत्रसाल—हमारे पचास योद्धा अब तक काम आ चुके हैं।

रानी—बुन्देलों की लाज अब ईश्वर के हाथ है।

छत्रसाल—हम आज रात को छापा मारेंगे।

रानी ने संक्षेप में अपना प्रस्ताव छत्रसाल के सामने उपस्थित किया और कहा—यह काम किसको सौंपा जाय?

छत्रसाल—मुझ को।

'तुम इसे पूरा कर दिखाओगे?'

'हाँ मुझे पूर्ण विश्वास है।'

'अच्छा जाओ परमात्मा तुम्हारा मनोरथ पूरा करे।'

छत्रसाल जब चला, तो रानी ने उसे हृदय से लगा लिया और तब आकाश की ओर दोनों हाथ उठाकर कहा—दयानिधे, मैंने अपना तरुण और होनहार पुत्र बुन्देलों की आन के आगे भेंट कर दिया। अब इस आन को निभाना तुम्हारा काम है। मैंने बड़ी मूल्यवान वस्तु अर्पित की है: इसे स्वीकार करो।

८

दूसरे दिन प्रातःकाल सारन्धा स्नान करके थाल में पूजा की सामग्री लिए मन्दिर को चली। उसका चहरा पीला पड़ गया था और आँखों तले अँधेरा छाया जाता था। वह मन्दिर के द्वार पर पहुँची थी कि उसके थाल में बाहर से आकर एक तीर गिरा। तीर की नोंक पर एक कागज का पुर्जा लिपटा हुआ था। सारन्धा ने थाल मन्दिर के चबूतरे पर रख दिया और पुर्जे को खोलकर देखा, तो आनन्द से चेहरा खिल गया; लेकिन यह आनन्द क्षण भर का मेहमान था। हाय! इस पुर्जे के लिए मैंने अपना प्रिय पुत्र को हाथ से खो दिया है। कागज के टुकड़े को इतने मँहगे दामों में किसने लिया होगा?

मन्दिर से लौटकर सारन्धा राजा चम्पतराय के पास गई और बोली—प्राणनाथ! आपने जो वचन दिया था, उसे पूरा कीजिए। राजा ने चौंककर पूछा—तुमने अपना वायदा पूरा कर लिया? रानी ने वह प्रतिज्ञा-पत्र राजा को दे दिया। चम्पतराय ने उसे ग़ौर से देखा, फिर बोले—अब मैं चलूँगा और ईश्वर ने चाहा, तो एक बार फिर शत्रुओं की खबर लूँगा; लेकिन सारन! सच बताओ, इस पत्र के लिए क्या देना पड़ा?

रानी ने कुण्ठित स्वर से कहा—बहुत कुछ।

राजा—सुनूँ?

रानी—एक जवान पुत्र।

राजा को बाण-सा लगा। पूछा—कौन? अंगराय?

रानी—नहीं।

राजा—रतनशाह?

रानी—नहीं।

राजा—छत्रसाल ?

रानी—हाँ।

जैसे कोई पक्षी गोली खाकर परों को फड़फड़ाता है और तब बेदम होकर गिर पड़ता है, उसी भाँति चम्पतराय पलंग से उछले और फिर अचेत होकर गिर पड़े। छत्रसाल उनका परमप्रिय पुत्र था। उनके भविष्य की सारी कामनाएँ उसी पर अवलम्बित थीं। जब चेत हुआ तो बोले—सारन, तुमने बुरा किया; अगर छत्रसाल मारा गया तो बुन्देला-वंश का नाश हो जायगा।

अँधेरी रात थी। रानी सारन्धा घोड़े पर सवार चम्पतराय को पालकी में बैठाए किले के गुप्त मार्ग से निकली जाती थी। आज से बहुत काल पहले जब एक दिन ऐसी ही अँधेरी, दुखमय रात्रि थी, तब सारन्धा ने शीतलादेवी को कुछ कठोर वचन कहे थे। शीतलादेवी ने उस समय जो भविष्य-वाणी की थी, वह आज पूरी हुई। क्या सारन्धा ने उसका जो उत्तर दिया था, वह भी पूरा होकर रहेगा ?

६

मध्याह्न था। सूर्यनारायण सिर पर आकर अग्नि की वर्षा कर रहे थे। शरीर को झुलसाने वाली प्रचण्ड, प्रखर वायु; वन और पर्वतों में आग लगाती फिरती थी। ऐसा विदित होता था, मानो अग्निदेव की समस्त सेना गरजती हुई चली आ रही है। गगन-मण्डल इसके भय से काँप रहा था। रानी सारन्धा घोड़े पर सवार, चम्पतराय को लिए, पश्चिम की तरफ चली जाती थी। ओरछा दस कोस पीछे छूट चुका था और प्रतिक्षण यह अनुमान स्थिर होता जाता था कि अब हम भय के क्षेत्र से बाहर निकल आये। राजा पालकी में

अचेत पड़े हुए थे और कहार पसीने में शराबोर थे। पालकी के पीछे पाँच सवार घोड़े बढ़ाये चले आते थे। प्यास के मारे सबका बुरा हाल था। तालू सूखा जाता था। किसी वृक्ष की छाँह और कुएँ की तलाश में आखें चारों ओर दौड़ रही थीं।

अचानक सारंधा ने पीछे की तरफ फिरकर देखा, तो उसे सवारों का एक दल आता हुआ दिखाई दिया। उसका माथा ठनका कि अब कुशल नहीं है। ये लोग अवश्य हमारे शत्रु हैं। फिर विचार हुआ कि शायद मेरे राजकुमार अपने आदमियों को लिये हमारी सहायता को आ रहे हैं। नैराश्य में भी आशा साथ नहीं छोड़ती। कई मिनट तक वह इसी आशा और भय की अवस्था में रही। यहाँ तक कि वह दल निकट आ गया और सिपाहियों के वस्त्र साफ नजर आने लगे। रानी ने एक ठण्डी साँस ली, उसका शरीर तृणवत् काँपने लगा। यह बादशाही सेना के लोग थे।

सारन्धा ने कहारों से कहा—डोली रोक लो। बुन्देला सिपाहियों ने भी तलवार खींच लीं। राजा की अवस्था बहुत शोचनीय थी, किंतु जैसे दबी हुई आग हवा लगते ही प्रदीप्त हो जाती है, उसी प्रकार इस संकट का ज्ञान होते ही उनके जर्जर शरीर में वीरात्मा चमक उठी। वे पालकी का पर्दा उठा कर बाहर निकल आये। धनुष-बाण हाथ में ले लिया; किन्तु वह धनुष जो उनके हाथ में इन्द्र का वज्र बन जाता था, इस समय जरा भी न झुका। सिर में चक्कर आया, पैर थर्राये और वे धरती पर गिर पड़े। भावी असंगल की सूचना मिल गई। उस पंख-रहित पक्षी के सदृश, जो साँप को अपनी तरफ आते देख कर ऊपर को

उचकता और फिर गिर पड़ता है, राजा चम्पतराय फिर सँभलकर उठे और गिर पड़े। सारन्धा ने सँभाल कर बैठाया और रोकर बोलने की चेष्टा की, परन्तु मुँह से केवल इतना निकला—प्राणनाथ ! इसके आगे उसके मुँह से एक शब्द भी न निकल सका। आन पर मरने वाली सारन्धा इस समय साधारण स्त्रियों की भाँति शक्तिहीन हो गई; लेकिन एक अंश तक यह निर्बलता स्त्री-जाति की शोभा है।

चम्पतराय बोले—सारन ! देखो हमारा एक और वीर जमीन पर गिरा। शोक ! जिस आपत्ति से यावज्जीवन डरता रहा, उसने इस अन्तिम समय आ घेरा। मेरी आँखों के सामने शत्रु तुम्हारे कोमल शरीर से हाथ लगायेंगे और मैं जगह से हिल भी न सकूँगा। हाय ! मृत्यु तू कब आयेगी ? यह कहते-कहते उन्हें एक विचार आया। तलवार की तरफ हाथ बढ़ाया; मगर हाथों में दम न था। तब सारन्धा से बोले—प्रिये ! तुमने कितने ही अवसरों पर मेरी आन निभाई है।

इतना सुनते ही सारन्धा के मुरझाये हुए मुख पर लाली दौड़ गई, आँसू सूख गये। इस आशा ने कि मैं अब भी पति के कुछ काम आ सकती हूँ, उसके हृदय में बल का संचार कर दिया। वह राजा की ओर विश्वासोत्पादक भाव से देख कर बोली—ईश्वर ने चाहा तो मरते दम तक निबाहूँगी।

रानी ने समझा, राजा मुझे प्राण दे देने का संकेत कर रहे हैं।

चम्पतराय—तुमने मेरी बात कभी नहीं टाली है।

सारन्धा—मरते दम तक न टालूँगी।

राजा—यह मेरी अन्तिम याचना है। इसे अस्वीकार न करना।

सारन्धा ने तलवार को निकाल कर अपने वक्षःस्थल पर रख लिया और कहा कि—यह आपकी आज्ञा नहीं है, मेरी हार्दिक अभिलाषा है कि मरूँ, तो यह मस्तक आपके पद-कमलों पर हो।

चम्पतराय—तुमने मेरा मतलब नहीं समझा। क्या तुम मुझे इसलिए शत्रुओं के हाथ में छोड़ जाओगी कि मैं बेड़ियाँ पहने हुए दिल्ली की गलियों में निन्दा का पात्र बनूँ।

रानी ने जिज्ञासा-दृष्टि से राजा को देखा। वह उनका मतलब न समझी।

राजा—मैं तुमसे एक वरदान माँगता हूँ।

रानी—सहर्ष माँगिए।

राजा—अन्तिम प्रार्थना है। जो कुछ कहूँगा, करोगी?

रानी—सिर के बल करूँगी।

राजा—देखो, तुमने वचन दिया है। इन्कार न करना।

रानी—(काँप कर) आपके कहने की देर है।

राजा—अपनी तलवार मेरी छाती में चुभा दो।

रानी के हृदय पर वज्रपात-सा हो गया। बोली—जीवननाथ! इसके आगे वह कुछ न बोल सकी—आँखों में नैराश्य छा गया।

राजा—मैं बेड़ियाँ पहनने के लिए जीवित नहीं रहना चाहता।

रानी—हाय! यह मुझसे कैसे होगा?

पाँचवाँ और अन्तिम सिपाही धरती पर गिरा। राजा ने झुँझला कर कहा—इसी जीवन पर आन निभाने का गर्व था!

बादशाह के सिपाही राजा की तरफ लपके। राजा ने नैराश्य-पूर्ण भाव से रानी की ओर देखा। रानी क्षण भर अनिश्चित रूप से खड़ी रही; लेकिन सङ्कट में हमारी निश्चयात्मक शक्ति बलवान हो जाती है। समय निकट था कि सिपाही लोग राजा को पकड़ लें कि सारन्धा ने दामिनी की भाँति लपक कर अपनी तलवार राजा के हृदय में चुभा दी।

प्रेम की नाव प्रेम के सागर में डूब गई। राजा के हृदय से रुधिर की धारा निकल रही थी; पर चेहरे पर शान्ति छाई हुई थी, कैसा करुण दृश्य है! वह स्त्री जो अपने पति पर प्राण देती थी, आज उसकी प्राणघातिका है। जिस हृदय से आलिङ्गित होकर उसने यौवन-सुख लूटा, जो हृदय उसकी अभिलाषओं का केन्द्र था, जो हृदय उसके अभिमान का पोषक था, उसी हृदय को आज सारन्धा की तलवार छेद रही है। किसी स्त्री की तलवार से ऐसा काम हुआ है?

आह! आत्माभिमान का कैसा विषादमय अन्त है। उदयपुर और मारवाड़ के इतिहास में भी आत्म-गौरव की ऐसी घटनायें नहीं मिलतीं।

बादशाही सिपाही सारन्धा का यह साहस और धैर्य देख कर दङ्ग रह गये। सरदार ने आगे बढ़कर कहा—रानी साहिबा! खुदा गवाह है। हम सब आपके गुलाम हैं। आपका जो हुक्म हो, उसे ब-सरोचश्म बजा लायेंगे।

सारन्धा ने कहा—अगर हमारे पुत्रों में से कोई जीवित हो, तो ये दोनों लाशें सौंप देना।

यह कह कर उसने वही तलवार अपने हृदय में चुभा ली। जब वह अचेत होकर धरती पर गिरी तो उसका सिर राजा चम्पतराय की छाती पर था।

६

ताई

श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'

[आपकी कहानियाँ हिन्दी में अपना एक विशेष स्थान रखती हैं। पाठकों की रुचि तथा उत्सुकता की वृद्धि आपकी कहानियों में सजीवता उत्पन्न करती है। साथ ही मधुर तथा व्यंग्यात्मक सम्भाषण पाठकों को हृदय की अपनी अनुभूति तक पहुँचाने में सहायक होते हैं। आपकी कहानियों के संग्रह 'चित्रशाला' तथा 'गल्पमन्दिर' के नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। आपने "मनोरंजन" का कुछ दिनों तक सम्पादन भी किया। नाटक और उपन्यास भी आपने लिखे हैं। परन्तु लघु कथाओं के समान हिन्दी-साहित्य में उनका उतना आदर तथा चलन न हो सका। प्रस्तुत कहानी में लेखक ने नारी-हृदय का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है और अन्त में स्त्री-हृदय की स्वाभाविक करुणा, प्रेम तथा दया का स्रोत, कठोरता, उग्रता तथा नृशंसता को किस प्रकार व्याप्त कर लेता है। इसका चित्रण है। शैशवकालीन बाल-चापल्य तथा भोलापन भी दर्शनीय है।]

१

'ताऊजी, हमें लेलगाड़ी (रेलगाड़ी) ला दोगे ?'—कहता हुआ एक पञ्चवर्षीय बालक बाबू रामजीदास की ओर दौड़ा।

बाबू साहब ने दोनों बाँहें फैलाकर कहा—हाँ बेटा, ला देंगे।

उनके इतना कहते-कहते बालक उनके निकट आ गया। उन्होंने बालक को गोद में उठा लिया और उसका मुख चूमकर बोले—क्या करेगा रेलगाड़ी का ?

बालक बोला—उसमें बैठकर बली दूल जायँगे। हम भी जायँगे, चुन्नी को भी ले जायँगे। बाबूजी को नहीं ले जायँगे। हमें लेलगाड़ी नहीं ला देते, ताऊजी तुम ला दोगे तो तुम्हें ले जायँगे।

बाबू—और किसको ले जायगा ?

बालक दम-भर सोचकर बोला—बछ, औल किसी को नहीं ले जायँगे।

पास ही बाबू रामजीदास की अर्द्धाङ्गिनी बैठी थीं। बाबू साहब ने उनकी ओर इशारा करके कहा—और अपनी ताई को नहीं ले जायगा ?

बालक कुछ देर अपनी ताई की ओर देखता रहा। ताईजी उस समय कुछ चिढ़ी हुई-सी बैठी थीं। बालक को उनके मुख का वह भाव अच्छा न लगा। अतएव वह बोला—ताई को नहीं ले जायँगे।

ताईजी सुपारी काटती हुई बोलीं—अपने ताऊजी ही को ले जा ! मेरे ऊपर दया रख !

ताई ने यह बात बड़ी रुखाई के साथ कही, बालक ताई के व्यवहार को तुरन्त ताड़ गया। बाबू साहब ने फिर पूछा—ताई को क्यों नहीं ले जायगा ?

बालक—ताई हमें प्याल (प्यार) नहीं कलती।

बाबू—जो प्यार करें, तो ले जायगा ?

बालक को इसमें सन्देह था। ताई का भाव देखकर

उसे यह आशा नहीं थी कि वह प्यार करेगी। इससे बालक मौन रहा।

बाबू साहब ने फिर पूछा—क्यों रे, बोलता क्यों नहीं? ताई प्यार करें, तो रेल पर बिठा कर ले जायगा?

बालक ने ताऊ को प्रसन्न करने के लिये केवल सिर हिलाकर स्वीकार कर लिया, परन्तु मुख से कुछ नहीं कहा।

बाबू साहब उसे अपनी अर्द्धाङ्गिनी के पास ले जाकर उनसे बोले—लो, इसे प्यार कर लो, तो यह तुम्हें भी ले जायगा। परन्तु बच्चे की ताई श्रीमती रामेश्वरी को पति की यह चुहल-बाजी अच्छी न लगी। वह तुनक कर बोली—तुम्हीं रेल पर बैठ कर जाओ, मुझे नहीं जाना है।

बाबू साहब ने रामेश्वरी की बात पर ध्यान नहीं दिया। बच्चे को उनकी गोद में बिठाने की चेष्टा करते हुए बोले—प्यार नहीं करोगी, तो फिर रेल में नहीं बिठावेगा—क्यों रे मनोहर?

मनोहर ने ताऊ की बात का उत्तर नहीं दिया। उधर ताई ने मनोहर को अपनी गोद से ढकेल दिया। मनोहर नीचे गिर पड़ा। शरीर में चोट नहीं लगी; पर हृदय में चोट लगी। बालक रो पड़ा।

बाबू साहब ने बालक को गोद में उठा लिया, चुमका-पुचकार कर चुप किया, और तत्पश्चात् उसे कुछ पैसे तथा रेलगाड़ी ला देने का वचन देकर छोड़ दिया। बालक मनोहर भय-पूर्ण-दृष्टि से अपनी ताई की ओर ताकता हुआ उस स्थान से चला गया।

मनोहर के चले जाने पर बाबू रामजीदास रामेश्वरी से

बोले—तुम्हारा यह कैसा व्यवहार है? बच्चे को ढकेल दिया जो उसके चोट लग जाती, तो?

रामेश्वरी मुँह मटका के बोलीं—लग जाती, तो अच्छा होता। क्यों मेरी खोपड़ी पर लादे देते थे? आप ही तो उसे मेरे ऊपर डालते थे, और आप ही अब ऐसी बातें करते हैं।

बाबू साहब कुढ़कर बोले—इसी को खोपड़ी पर लादना कहते हैं?

रामेश्वरी—और नहीं किसे कहते हैं? तुम्हें तो अपने आगे और किसी का दुःख-सूझता ही नहीं। न जाने कब किसका जी कैसा होता है। तुम्हें इन बातों की कोई परवाह ही नहीं, अपनी चुहल से काम है।

बाबू—बच्चों की प्यारी-प्यारी बातें सुनकर तो चाहे जैसा जी हो, प्रसन्न हो जाता है, मगर तुम्हारा हृदय न जाने किस धातु का बना हुआ है!

रामेश्वरी—तुम्हारा हो जाता होगा। और होने को होता भी है; मगर वैसा बच्चा भी तो हो! पराये धन से भी कहीं घर भरता है।

बाबू साहब कुछ देर चुप रहकर बोले—यदि अपना सगा भतीजा भी पराया धन कहा जा सकता है, तो फिर मैं नहीं समझता कि अपना धन किसे कहेंगे?

रामेश्वरी कुछ उत्तेजित होकर बोलीं—बातें बनाना बहुत आता है। तुम्हारा भतीज़ा है, तुम चाहे जो समझो; पर मुझे ये बातें अच्छी नहीं लगतीं। हमारे भाग्य ही फूटे हैं! नहीं तो ये दिन काहे को देखने पड़ते! तुम्हारा चलन तो दुनिया से निराला है। आदमी सन्तान के लिए न जाने क्या-क्या करते हैं—पूजा-पाठ कराते हैं, व्रत रखते हैं; पर तुम्हें

इन बातों से क्या काम? रात-दिन भाई भतीजों में मगन रहते हो।

बाबू साहब के मुख पर घृणा का भाव झलक आया। उन्होंने कहा—पूजा, पाठ, व्रत, सब ढकोसला है। जो वस्तु भाग्य में नहीं वह पूजा-पाठ से कभी प्राप्त नहीं हो सकती। मेरा तो यह अटल विश्वास है।

श्रीमती जी कुछ-कुछ रुँआसे स्वर में बोलीं—इस विश्वास ने तो सब चौपट कर रखा है! ऐसे ही विश्वास पर सब बैठ जायें तो काम कैसे चले। सब विश्वास पर ही बैठे रहें, आदमी काहे को किसी बात के लिए चेष्टा करे।

बाबू साहब ने सोचा, कि मूर्ख स्त्री के मुँह लगना ठीक नहीं। अतएव वह स्त्री की बात का कुछ उत्तर न देकर वहाँ से टल गये।

बाबू रामजीदास धनी आदमी हैं। कपड़े की आढ़त का काम करते हैं। लेन-देन भी है। इनके एक छोटा भाई भी है। उसका नाम है कृष्णदास! दोनों भाइयों का परिवार एक ही में है! बाबू रामजीदास की आयु ३५ वर्ष के लगभग है, और छोटे भाई कृष्णदास की २१ साल के लगभग। रामजीदास निस्सन्तान हैं। कृष्णदास के दो सन्तानें हैं। एक पुत्र—वही पुत्र, जिससे पाठक परिचित हो चुके हैं—और एक कन्या है। कन्या की आयु दो वर्ष के लगभग है।

रामजीदास अपने छोटे भाई और उनकी सन्तान पर बड़ा स्नेह रखते हैं—ऐसा स्नेह कि उसके प्रभाव में उन्हें अपनी सन्तान-हीनता कभी खटकती ही नहीं। छोटे भाई की सन्तान को वे अपनी ही सन्तान समझते हैं। दोनों बच्चे

भी रामजीदास से इतने हिले हैं कि उन्हें अपने पिता से भी अधिक समझते हैं।

परन्तु रामजीदास की पत्नी रामेश्वरी को अपनी सन्तान-हीनता का बड़ा दुःख है। वह दिन-रात सन्तान ही के सोच में घुला करती हैं। छोटे भाई की सन्तान पर पति का प्रेम उनकी आँखों में काँटे की तरह खटकता है।

रात में भोजन इत्यादि से निवृत्त होकर रामजीदास शय्या पर लेटे हुए शीतल और मन्द-वायु का आनन्द ले रहे थे। पास ही दूसरी शय्या पर रामेश्वरी, हथेली पर सिर रखे, किसी चिन्ता में डूबी हुई थीं। दोनों बच्चे अभी बाबू साहब के पास से उठकर अपनी माँ के पास गये थे।

बाबू साहब ने अपनी स्त्री की ओर करवट लेकर कहा—आज तुमने मनोहर को इस बुरी तरह से ढकेला था कि मुझे अब तक उसका दुःख है। कभी-कभी तो तुम्हारा व्यवहार बिलकुल ही अमानुषिक हो उठता है।

रामेश्वरी बोलीं—तुम्हीं ने मुझे ऐसा बना रखा है। उस दिन उस पण्डित ने कहा कि हम दोनों के जन्म-पत्र में सन्तान का जोग है, और उपाय करने से सन्तान हो भी सकती है। उसके उपाय भी बताये थे, पर तुमने उनमें से एक भी करके न देखा। बस, तुम तो इन्हीं दोनों में मगन हो। तुम्हारी इस बात से रात-दिन मेरा कलेजा सुलगता रहता है। आदमी उपाय तो करके देखता है। फिर होना न होना तो भगवान् के अधीन है।

बाबू साहब हँसकर बोले—तुम्हारी जैसी सीधी स्त्री भी.... क्या कहूँ, तुम इन ज्योतिषियों की बातों पर विश्वास करती

हो; जो दुनिया भर के झूठे और धूर्त्त हैं ! ये झूठ बोलने ही की रोटियाँ खाते हैं।

रामेश्वरी तुनक कर बोली—तुम्हें तो सारा संसार झूठा ही दिखाई पड़ता है। पोथी-पुराण भी सब झूठे हैं ? पण्डित कुछ अपनी तरफ से तो बनाकर कहते ही नहीं हैं। शास्त्र में जो लिखा है, वही वे कहते हैं। शास्त्र झूठा है, तो वे भी झूठे हैं। अँगरेजी क्या पढ़ी, अपने आगे किसी को गिनते ही नहीं। जो बातें बाप-दादे के जमाने से चली आई हैं, उन्हें भी झूठा बताते हैं।

बाबू साहब—तुम बात तो समझती नहीं, अपनी ही ओंटे जाती हो। मैं यह नहीं कहता कि ज्योतिष-शास्त्र झूठा है, वह सच्चा हो; परन्तु ज्योतिषियों में अधिकांश झूठे होते हैं। उन्हें ज्योतिष का पूर्ण ज्ञान तो होता नहीं, दो एक छोटी-मोटी पुस्तकें पढ़ कर ज्योतिषी बन बैठते हैं और लोगों को ठगते फिरते हैं। ऐसी दशा में उनकी बातों पर कैसे विश्वास किया जा सकता है ?

रामेश्वरी—हूँ, सब झूठे ही हैं, तुम्हीं एक बड़े सच्चे हो। अच्छा, एक बात पूछती हूँ। भला तुम्हारे जी में सन्तान की इच्छा क्या कभी नहीं होती ?

इस बार रामेश्वरी ने बाबू साहब के हृदय का कोमल स्थान पकड़ा। वह देर तक चुप रहे। तत्पश्चात् एक लम्बी साँस लेकर बोले—भला ऐसा कौन मनुष्य होगा जिसके हृदय में सन्तान का मुख देखने की इच्छा न हो ? परन्तु किया क्या जाय ? जब नहीं है और न होने की कोई आशा है, तब उसके लिए व्यर्थ चिन्ता करने से क्या लाभ ? इसके सिवा जो बात अपनी सन्तान से होती, वही भाई की सन्तान से भी तो

हो रही है। जितना स्नेह अपनी पर होता, उतना ही इन पर भी है। जो आनन्द उनकी बाल-क्रीड़ा से आता, वही इनकी क्रीड़ा से भी आ रहा है। फिर भी मैं नहीं समझता कि चिन्ता क्यों की जाय ?

रामेश्वरी कुढ़कर बोलीं—तुम्हारी समझ को मैं क्या कहूँ। इसी से तो रात-दिन जला करती हूँ। भला यह तो बताओ कि तुम्हारे पीछे क्या इन्हीं से तुम्हारा नाम चलेगा ?

बाबू साहब हँसकर बोले—अरे तुम भी कहाँ की पोच बातें लाईं। नाम सन्तान से नहीं चलता। नाम अपनी सुकृति से चलता है। तुलसीदास को बच्चा-बच्चा जानता है। सूरदास को मरे कितने दिन हो चुके ? इसी प्रकार जितने महात्मा हो गये हैं उन सब का नाम क्या सन्तान ही की बदौलत चल रहा है। सच पूछो तो सन्तान में जितना नाम चलने की आशा रहती है, उतनी नाम डूब जाने की भी सम्भावना रहती है; परन्तु सुकृति एक ऐसी वस्तु है जिससे नाम बढ़ने के सिवा घटने की कभी आशंका रहती ही नहीं। हमारे शहर में राय गिरधारीलाल कितने नामी आदमी थे ? उनके संतान कहाँ है ? पर उनकी धर्मशाला और अनाथालय से उनका नाम अब तक चला जा रहा है और न जाने कितने दिनों तक चला जायगा।

रामेश्वरी—शास्त्र में लिखा है कि जिसके पुत्र नहीं होता उसकी मुक्ति नहीं होती।

बाबू—मुक्ति पर मुझे विश्वास ही नहीं। मुक्ति है किस चिड़िया का नाम ? यदि मुक्ति होना मान भी लिया जाय, तो यह कैसे माना जा सकता है कि सब पुत्रवानों की मुक्ति हो ही जाती है ? मुक्ति का भी सहज उपाय है। ये जितने पुत्र वाले हैं; सभी की तो मुक्ति हो जाती होगी ?

रामेश्वरी निरुत्तर होकर बोली—अब तुमसे कौन वक्र-बाद करे तुम तो अपने सामने किसी को मानते ही नहीं।

३

मनुष्य का हृदय वड़ा ममत्व प्रेमी है। कैसी ही उपयोगी और कितनी सुन्दर वस्तु क्यों न हो, जब तक मनुष्य उसको पराई समझता है, तब तक उससे प्रेम नहीं करता; किन्तु भद्दी-से-भद्दी और बिल्कुल काम में न आने वाली वस्तु को भी मनुष्य अपनी समझता है, तो उससे प्रेम करता है। पराई वस्तु कितनी ही मूल्यवान क्यों न हो, कितनी ही उपयोगी क्यों न हो, कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, उसके नष्ट होने पर मनुष्य कुछ भी दुःख का अनुभव नहीं करता; इसलिए कि वह वस्तु उसकी नहीं, पराई है। अपनी वस्तु कितनी ही भद्दी हो, काम में न आनेवाली हो उसके नष्ट होने पर मनुष्य को दुःख होता है; इसलिए कि वह अपनी चीज है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मनुष्य पराई चीज से प्रेम करने लगता है। ऐसी दशा में भी जब मनुष्य उस वस्तु को अपनी बनाकर नहीं छोड़ता, अथवा अपने हृदय में यह विचार नहीं दृढ़ कर लेता कि वह यह वस्तु मेरी है, तब तक उसे सन्तोष नहीं होता। मानव से प्रेम उत्पन्न होता है, और प्रेम से ममत्व। इन दोनों का साथ चोली-दामन का-सा होता है, ये कभी प्रथक नहीं किये जा सकते।

यद्यपि रामेश्वरी को माता बनने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था, तथापि उनका हृदय एक माता का हृदय बनने की पूरी योग्यता रखता था। उनके हृदय में वे गुण विद्यमान तथा अन्तर्निहित थे, जो एक माता के हृदय में होते हैं; परन्तु उनका विकास नहीं हुआ था। उनका हृदय उस भूमि की तरह था,

जिसमें बीज तो पड़ा हुआ था, पर उसको सींचकर और इस प्रकार बीज को प्रस्फुटित करके भूमि के ऊपर लानेवाला कोई नहीं; इसीलिए उनका ध्यान उन बच्चों की ओर खिंचता तो था; परन्तु जब उन्हें ध्यान आता था कि ये बच्चे मेरे नहीं; दूसरे के हैं, तब उनके हृदय में उनके प्रति द्वेष उत्पन्न होता था, घृणा पैदा होती थी। विशेषकर उस समय उनके द्वेष की मात्रा और भी बढ़ जाती थी, जब वह यह देखती थीं कि उनके पतिदेव उन बच्चों पर प्राण देते हैं जो उनके (रामेश्वरी के) नहीं हैं।

शाम का समय था। रामेश्वरी खुली छत पर बैठी हवा खा रही थीं। पास ही उनकी देवरानी भी बैठी थी। दोनों बच्चे छत पर दौड़-दौड़कर खेल रहे थे। रामेश्वरी उनके खेल को देख रही थी। इस समय रामेश्वरी को उन बच्चों का खेलना-कूदना बड़ा भला मालूम हो रहा था। हवा में उड़ते हुए उनके बाल, कमल की तरह खिले हुए उनके नन्हें-नन्हें मुख, उनकी प्यारी-प्यारी तोतली बातें, उनका चिल्लाना, भागना, लोट जाना इत्यादि क्रीड़ाएँ उनके हृदय को शीतलकर रही थीं। सहसा मनोहर अपनी बहन को मारने दौड़ा। वह खिलखिलाती हुई दौड़कर रामेश्वरी की गोद में जा गिरी। उसके पीछे-पीछे मनोहर भी दौड़ता हुआ आया और वह भी उन्हीं की गोद में जा गिरा। रामेश्वरी उस समय सारा द्वेष भूल गईं। उन्होंने दोनों बच्चों को उसी प्रकार हृदय से लगा लिया, जिस प्रकार वह मनुष्य लगाता है, जो कि बच्चों के लिए तरस रहा हो। उन्होंने बड़ी सतृष्णता से दोनों को प्यार किया। उस समय यदि कोई अपरिचित मनुष्य उन्हें देखता, तो उसे यही विश्वास होता कि रामेश्वरी ही उन बच्चों की माता हैं।

दोनों बच्चे बड़ी देर तक उनकी गोद में खेलते रहे। सहसा उसी समय किसी के आने की आहट पाकर बच्चों की माता वहाँ से उठकर चली गई।

'मनोहर ले रेलगाड़ी।'—कहते हुए बाबू रामजीदास छत पर आये। उनका स्वर सुनते ही दोनों बच्चे रामेश्वरी की गोद से तड़पकर निकल भागे। रामजीदास ने पहले दोनों को खूब प्यार किया, फिर बैठकर रेलगाड़ी दिखाने लगे।

इधर रामेश्वरी की नींद-सी टूटी। पति को बच्चों में मग्न हुआ देखकर उनकी भौंहें तन गईं। बच्चों के प्रति हृदय में फिर वही घृणा और द्वेष का भाव जाग उठा।

बच्चों को रेलगाड़ी देकर बाबू साहब रामेश्वरी के पास आये और मुस्करा कर बोले—आज तो बच्चों को बड़ा प्यार कर रही थीं। इससे मालूम होता है कि तुम्हारे हृदय में भी इनके प्रति कुछ प्रेम अवश्य है।

रामेश्वरी को पति की यह बात बहुत बुरी लगी। उन्हें अपनी कमजोरी पर बड़ा दुःख हुआ। केवल दुःख ही नहीं, अपने ऊपर क्रोध भी आया। वह दुःख और क्रोध पति के उक्त वाक्यों से और भी बढ़ गया। उनकी कमजोरी पति पर प्रकट हो गई, यह बात उनके लिए असह्य हो उठी।

रामजीदास बोले—इसीलिए मैं कहता हूँ कि अपनी सन्तान के लिए सोच करना वृथा है। यदि तुम इनसे प्रेम करने लगो तो तुम्हें ये ही अपनी सन्तान प्रतीत होने लगेंगे। मुझे इस बात से प्रसन्नता है कि तुम इनसे स्नेह करना सीख रही हो।

यह बात बाबू साहब ने नितान्त शुद्ध हृदय से कही थी; परन्तु रामेश्वरी को इसमें व्यंग्य की तीक्ष्ण गंध मालूम हुई।

उन्होंने कुढ़कर मन में कहा—इन्हें मौत भी नहीं आती, मर जायँ, पाप कटे। आठों पहर आँखों के सामने रहने से प्यार करने को जी ललचा ही उठता है। इनके मारे कलेजा और भी जला करता है।

बाबू साहब ने पत्नी को मौन देखकर कहा—अब झेंपने से क्या लाभ? अपने प्रेम को छिपाने की चेष्टा करना व्यर्थ हैं। छिपाने की आवश्यकता भी नहीं।

रामेश्वरी जल-भुन कर बोली—मुझे क्या पड़ी है, जो मैं प्रेम करूँगी? तुम्हीं को मुबारक रहें। निगोड़े आप ही आप आके घुसते हैं। एक घर में रहने से कभी-कभी हँसना बोलना पड़ता है। अभी परसों जरा यों ही ढकेल दिया, उस पर तुमने सैकड़ों बातें सुनाईं, संकट में प्राण हैं, न यों चैन; न वों चैन।

बाबू साहब को पत्नी के वाक्य सुनकर बड़ा क्रोध आया। उन्होंने कर्कश स्वर में कहा—न जाने कैसे हृदय की स्त्री है। अभी अच्छी-खासी बैठी बच्चों को प्यार कर रही थी। मेरे आते ही गिरगिट की तरह रंग बदलने लगी। अपनी इच्छा चाहे जो करे, पर मेरे कहने से बल्लियों उछलती है। न जाने मेरी बातों में कौन-सा विष घुला रहता है। यदि मेरा कहना ही बुरा मालूम होता है, तो न कहा करूँगा, पर इतना याद रखो कि अब जो कभी इनके विषय में निगोड़े-सिगोड़े अपशब्द निकाले तो अच्छा न होगा। तुमसे मुझे ये बच्चे कहीं अधिक प्यारे हैं।

रामेश्वरी ने इसका कोई उत्तर न दिया। अपने क्षोभ तथा क्रोध को वह आँखों द्वारा निकालने लगीं।

जैसे-ही-जैसे बाबू रामजीदास का स्नेह दोनों पर बढ़ता

जाता था, वैसे-ही-वैसे रामेश्वरी के द्वेष और घृणा की मात्रा भी बढ़ती जाती थी। प्रायः बच्चों के पीछे पति-पत्नी में कहा-सुनी हो जाती थी और रामेश्वरी को पति के कटु वचन सुनने पड़ते थे। जब रामेश्वरी ने यह देखा कि बच्चों के कारण ही वह पति की नजर से गिरती जा रही है, तब उनके हृदय में बड़ा तूफान उठा। उन्होंने सोचा—पराये बच्चों के पीछे यह मुझसे प्रेम कम करते जाते हैं, मुझे हर समय बुरा-भला कहा करते हैं; इनके लिए ये बच्चे ही सब कुछ हैं, मैं कुछ भी नहीं! दुनियाँ मरती जाती है; पर इन दोनों को मौत नहीं। ये पैदा होते ही क्यों न मर गये। न ये होते, न मुझे ये दिन देखने पड़ते। जिस दिन ये मरेंगे, उस दिन घी के दिये जलाऊँगी; इन्होंने ही मेरा घर का सत्यानाश कर रखा है।

इसी प्रकार कुछ दिन व्यतीत हुए। एक दिन नियमानुसार रामेश्वरी छत पर अकेली बैठी हुई थीं; उनके हृदय में अनेक प्रकार के विचार आ रहे थे विचार और कुछ नहीं, वही अपनी निज की सन्तान का अभाव, पति का भाई की सन्तान के प्रति अनुराग इत्यादि। कुछ देर बाद जब उनके विचार स्वयं उन्हीं को कष्टदायक मालूम होने लगे, तब वह अपना ध्यान दूसरी ओर लगाने के लिए उठकर टहलने लगीं।

वह टहल ही रही थीं कि मनोहर दौड़ता हुआ आया। मनोहर को देखकर उनकी भृकुटी चढ़ गई, और वह छत की चहार-दीवार पर हाथ रखकर खड़ी हो गई।

सन्ध्या का समय था। आकाश में रंग-विरंगी पतंगें उड़ रही थीं। मनोहर कुछ देर तक खड़ा पतङ्गों को देखता और सोचता रहा कि कोई पतङ्ग कट कर उसकी छत पर गिरे, तो

क्या ही आनन्द आवे। देर तक पतंग गिरने की आशा करने के बाद वह दौड़कर रामेश्वरी के पास आया और उनकी टाँगों में लिपट कर बोला—ताई, हमें पतङ्ग मँगा दो। रामेश्वरी ने झिड़ककर कहा—चल हट, अपने ताऊ से माँग जाकर।

मनोहर कुछ अप्रतिभ होकर फिर आकाश की ओर ताकने लगा। थोड़ी देर बाद उससे फिर न रहा गया। इस बार उसने बड़े लाड़ में आकर अत्यन्त करुण-स्वर में कहा—ताई पतङ्ग मँगा दो—हम भी उड़ावेंगे।

इस बार उसकी भोली प्रार्थना से रामेश्वरी का कलेजा कुछ पसीज गया। वह कुछ देर तक उसकी ओर स्थिर दृष्टि से देखती रहीं, फिर उन्होंने एक साँस लेकर मन-ही-मन कहा—यदि यह मेरा पुत्र होता, तो आज मुझ से बढ़कर भागवान स्त्री संसार में दूसरी न होती। निगोड़ा मरा कितना सुन्दर है, और प्यारी-प्यारी बातें करता है, यही जी चाहता है कि उठाकर छाती से लगा लें।

यह सोचकर वह उसके सिर पर हाथ फेरने वाली ही थीं, कि इतने में मनोहर उन्हें मौन देखकर बोला—तुम हमें पतंग नहीं मँगवा दोगी तो ताऊजी से कह कर पिटवा देंगे।

यद्यपि बच्चे की इस भोली बात में भी बड़ी मधुरता थी, तथापि रामेश्वरी का मुख क्रोध के मारे लाल हो गया। वह उसे झिड़क कर बोलीं—जा कह दे अपने ताऊजी से देखूँ, वह मेरा क्या कर लेंगे।

मनोहर भयभीत होकर उनके पास से हट आया और फिर सतृष्ण नेत्रों से आकाश में उड़ती हुई पतंगों को देखने लगा।

इधर रामेश्वरी ने सोचा—यह सब ताऊजी के दुलार का फल है कि बालिश्त भर का लड़का मुझे धमकाता है। ईश्वर करे इस दुलार पर बिजली टूटे।

उसी समय आकाश से एक पतङ्ग कट कर उसी छत की ओर आई और रामेश्वरी के ऊपर से होती हुई छज्जे की ओर गई। छत के चारों ओर चहार-दीवारी थी। जहाँ रामेश्वरी खड़ी हुई थीं, केवल वहीं पर चक्र द्वार था जिससे छज्जे पर आ-जा सकते थे रामेश्वरी उस द्वार से सटी हुई खड़ी थीं। मनोहर ने पतङ्ग को छज्जे पर जाते देखा। पतङ्ग पकड़ने के लिये वह दौड़कर छज्जे की ओर चला। रामेश्वरी खड़ी देखती रहीं। मनोहर उनके पास से होकर छज्जे पर चला गया और उनसे दो फीट की दूरी पर खड़ा होकर पतंग को देखने लगा। पतङ्ग छज्जे पर से होती हुई नीचे घर के आँगन में जा गिरी। एक पैर छज्जे की मुँडेर पर रखकर मनोहर ने नीचे आँगन में झाँका और पतङ्ग को आँगन में गिरते देख प्रसन्नता के मारे फूला न समाया। वह नीचे जाने के लिये शीघ्रता से घूमा; परन्तु घूमते समय मुँडेर पर से उसका पैर फिसल गया। वह नीचे की ओर चला। नीचे जाते-जाते उसके दोनों हाथों में मुँडेर आ गई। वह उसे पकड़ कर लटक गया और रामेश्वरी की ओर देखकर चिल्लाया—ताई! रामेश्वरी ने धड़कते हुए हृदय से इस घटना को देखा। उसके मन में आया, कि अच्छा है, मरने दो सदा का पाप कट जायगा। यह सोचकर वह एक क्षण के लिए रुकीं। उधर मनोहर के हाथ मुँडेर पर से फिसलने लगे। वह अत्यन्त भय तथा करुण नेत्रों से रामेश्वरी की आँखों की ओर देखकर चिल्लाया—अरी ताई! रामेश्वरी की आँखें मनोहर की आँखों

से जा मिलीं। मनोहर की वह दृष्टि देखकर रामेश्वरी का कलेजा मुँह को आ गया। उन्होंने व्याकुल होकर मनोहर को पकड़ने के लिए अपना हाथ बढ़ाया। उनका हाथ मनोहर के हाथ तक पहुँचा ही था कि मनोहर के हाथ से मुँडेर छूट गई। वह नीचे आ गिरा। रामेश्वरी चीख मारकर छज्जे पर गिर पड़ीं।

रामेश्वरी एक सप्ताह तक बुखार में बेहोश पड़ी रहीं। कभी-कभी वह जोर से चिल्ला उठतीं, और कहतीं—देखो-देखो वह गिरा जा रहा है—उसे बचाओ—दौड़ो मेरे मनोहर को बचा लो। कभी वह कहतीं—बेटा मनोहर, मैंने तुझे नहीं बचाया। हाँ, हाँ, मैं चाहती तो बचा सकती थी—मैंने देर कर दी—इस प्रकार के प्रलाप वह किया करतीं।

मनोहर की टाँग उखड़ गई थी। टाँग बिठा दी गई, वह क्रमशः फिर अपनी असली हालत पर आने लगा।

एक सप्ताह बाद रामेश्वरी का ज्वर कम हुआ। अच्छी तरह होश आने पर उन्होंने पूछा—मनोहर कैसा है?

रामजीदास ने उत्तर दिया—अच्छा है।

रामेश्वरी—उसे मेरे पास लाओ।

मनोहर रामेश्वरी के पास लाया गया। रामेश्वरी ने उसे बड़े प्यार से हृदय से लगाया। आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई। हिचकियों से गला रुँध गया।

रामेश्वरी कुछ दिनों बाद पूर्ण स्वस्थ हो गईं। अब वह मनोहर की बहन चुन्नी से भी द्वेष और घृणा नहीं करतीं और मनोहर तो अब उनका प्राणाधार हो गया है। उसके बिना उन्हें क्षण भर भी कल नहीं पड़ती।

७

प्रतिज्ञा

श्री चण्डीप्रसाद 'हृदयेश'

[हिन्दी कथा लेखकों में आपकी भी एक विशेष तथा निश्चित शैली है। आपको मनोवैज्ञानिक या अनुभूतिवाद की कहानियों की अपेक्षा पात्रों द्वारा आदर्शवाद की पूर्त्ति कराना ही मनोनीत था। पाठक कहानी के द्वारा एक साहित्यिक लेख का आनन्द अनुभव करता है। आपकी कहानियों की कथा-वस्तु केवल दो या तीन पंक्तियों में ही अङ्कित की जा सकती है। आपने कहानियों में कल्पना का, मस्तिष्क की उर्वरता का तथा नाना प्रकार की उत्प्रेक्षाओं और उपमाओं का समावेश किया है—इससे कहानी-कला का स्वारस्य जाता रहता है, परन्तु हिन्दी में आपका एक अपना निश्चित मार्ग है, इसी कारण प्रस्तुत कहानी-संग्रह में यह कहानी है। इस कहानी द्वारा आपने विश्व-सेवा तथा विश्व-प्रेम का एक उच्च आदर्श नव-युवकों द्वारा पूर्ण कराने का आयोजन किया है। भाषा कल्पनागर्भित और कल्पनासमन्वित है और शैली संस्कृत के बाण और दण्डी का स्मरण दिलाती है।]

जीवन-ज्योति का निर्वाण ! कहाँ है ? नैराश्य की कालिमामयी कन्दरा में अथवा आनन्द के आलोकमय प्रासाद में ? कल्पना और चिन्ता ! इसका समुचित उत्तर क्या तुम दोनों की सर्वत्र विहारिणी बुद्धि के भी परे है ?

उत्तर हो, या न हो, कर्त्तव्य के कठोर पथ से भ्रष्ट हो जाने पर जीवन-ज्योति अवश्य ही रसातल की अपमान-कन्दरा में चिरकाल के लिए पतित हो जायगी, भविष्य-गगन के बाल-सूर्य की उज्ज्वल आभा अज्ञान-सिन्धु के भयंकर वक्षःस्थल में निश्चय ही विलीन हो जायगी ऐसे समय जीवन-मरण की विकट समस्या के समुपस्थित होने पर कौन से मार्ग का अवलम्बन करना होगा ? विश्वनाथ के विमल हृदय में इस क्रान्तिकारी प्रश्न ने बड़ी हल-चल मचादी है।

विश्वनाथ की अवस्था २० वर्ष की है। बी० ए० पास होने पर भी उन्हें ग्राम्य जीवन और ग्रामीण वेश ही विशेष प्रिय हैं। जिन्हें अँग्रेजी पढ़कर अपने देश और वेश से घृणा हो जाती है शिक्षा के सर्वोच्च सोपान पर पहुँचकर भी जिनमें करुणा और विनय का एकान्त अभाव तथा स्वार्थ और अहङ्कार का पूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है, जो देश के सर्वस्व का उपभोग करते हुए भी उसके साथ—अपने जन्म-दाता के साथ—विश्वासघात करने में क्षण-मात्र भी कुण्ठित नहीं होते, जो देश की दरिद्र सन्तान से अन्न-दात्री कृषक-मण्डली से—एक बार हँसकर बोलने में भी अपनी निःसार मान-मर्यादा के अपमान की कल्पना करते हैं, उनके—विदेशी सभ्यता के तीव्र आलोक में विचरने वालें ममता शून्य अहम्मानियों के—विश्वनाथ अपवाद-स्वरूप थे।

विश्वनाथ जिस ग्राम में रहते थे; वह उन्हीं की जमींदारी में था। विश्वनाथ केवल अपने माता-पिता के ही स्नेह-भाजन हों, यह बात न थी। गाँव के छोटे-बड़े, धनी-मानी, राव-रङ्क सभी विश्वनाथ से समान स्नेह करते थे। विश्वनाथ की करुणा-लहरी भी अनिवरुद्ध गति से प्रवाहित होकर सबको

समान भाव से शीतल करती थी। गाँव की युवतियाँ उन्हें भाई कहती थीं, गाँव के कपट-शून्य युवक उनसे सहोदर-समान स्नेह करते, गाँव की प्रौढ़ा उन्हें अपनी सन्तान के समान देखतीं और गाँव के बच्चे-बूढ़े उन्हें अपनी आत्मा का दूसरा स्वरूप समझते। प्रकृति के उस परम रम्य विहार वन में, स्नेह के उस सौरभमय निकुञ्ज में और शान्ति के उस पुण्य-उपवन में विश्वनाथ इस प्रश्न की समुचित समस्या हल करने के लिए व्याकुल हो उठे।

तर्क! वक्र गति का परित्याग कर दो। नियम! अपवाद का अनादर कर दो। न्याय! विकार का बहिष्कार कर दो। और सत्य! तुम अपने ध्रुव आलोकमय रूप में दर्शन देकर विश्वनाथ के हृदय-गगन की इस सन्देह-कालिमा को दूर कर दो।

२

इस ब्रह्माण्ड-व्यापी भू-कम्प के समय भारतवर्ष अपने पैरों पर खड़ा रह सकेगा या नहीं, इस विषय पर विचार करते-करते विश्वनाथ ग्राम वाहिनी कल्लोलिनी तट पर घूम रहे हैं। दिन-नाथ अपनी अरुण किरणों से सरोजिनी के म्लान होते हुए मुख का चुम्बन करके अपनी रसातल-यात्रा में अग्रसर हो रहे हैं। मध्य गगन मेंअष्टमी का अर्धचन्द्र भुवन भास्कर के असीम राज्य पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए विशेष समुत्सुक हो रहा है।

विश्वनाथ आप-ही-आप कहने लगे—कैसी भयकर परिस्थिति है! कहाँ है देवताओं के ऐश्वर्य को पराजित करने-वाली वह विभूति? स्वप्न हो गई! ये सब इतिहास-शेष बातें हैं। देखता हूँ, कमल-दल विहारिणी भगवती कमला अपने

कर-सरोज के मुरझाए हुए एक पल्लव-शेष सरोज को अपनी अश्रुधारा से सिक्त कर रह रही हैं; देवी शारदा भग्नावशेष भवन में बैठकर, अपनी भुवनमोहिनी वीणा के टूटे हुए तारों को मिलाकर, मर्मान्तक गान गा रही है। चली गई सब सम्पदा! कहाँ है वह ऋद्धि-सिद्धि का अनुपम नृत्य? कहाँ है वह विश्व-विमोहन ऐश्वर्य? विधि का कैसा भयानक विधान है? भाग्य-नायक का कैसा मर्म-भेदी दुखान्त दृश्य है? आनन्द का वह जयोल्लास मानो अनन्त गगन में विलीन हो गया, ऐश्वर्य की वह आभा मानो अनन्त तिमिर के उदर में शेष हो गई; विभूति मानो श्मशान-भूमि में भूति-शेष रह गई!

कहते-कहते विश्वनाथ के लोचन-युगल से अश्रु-धारा बहने लगी। हृदय में जब भयंकर उत्ताप होता है, कल्पना जब केवल प्रज्वलित प्रदेश में परिभ्रमण करती है, मस्तिष्क जब चिता-भूमि की भाँति, धधकते हुए विचारों का केन्द्र बन जाता है, तब नयनों की अश्रुधारा क्या इस भयंकर अग्नि-त्रयी को शान्त करने में समर्थ होती है?

विश्वनाथ अश्रु-प्रवाह को पोंछ कर पुनः कहने लगे—सुनता हूँ, विधवाओं का मर्म-भेदी आर्त्तनाद, शुष्कस्तनी माताओं के मातृप्राय बालकों का भयंकर चीत्कार, दरिद्रों का भीषण अट्टहास और हाय! इन सब के बीच में सुनता हूँ सर्व-नाशिनी ईर्षा की पैशाचिक हँसी! लज्जा आज शीर्ण-वस्त्रावृता है, शील जठराग्नि में दग्ध होकर विकल हो रहा है, आचार अभाव के कठोर अत्याचार से मृत-प्राय हो रहा है और प्रेम चिन्ता की भयंकर चिता में दग्ध होकर भस्मा-वशेष होना चाहता है। हा देव!

विश्वनाथ अत्यन्त उद्विग्न हो उठे। जब दुख-सिन्धु अपनी मर्यादा का उल्लंघन करना चाहता है, प्रकाण्ड भू-कम्प का आघात जब धैर्य-शैल को रसातल के गर्भ में ले जाने का उपक्रम कर रहा है, प्रबल पयोद-पुञ्ज अपनी भयंकर गर्जना में जब निर्बल के मन्द चीत्कार को विलीन कर लेना चाहता है, तब प्रलय में—जगत् के भीषण परिवर्तन में—विशेष विलम्ब नहीं है।

३

रमानाथ और विश्वनाथ बाल्य-बन्धु हैं। कल्लोलिनी तट पर निकुंज बन में दोनों ने अनेक बार अपने-अपने सरस हृदय के निश्छल भावों को एक दूसरे के सम्मुख प्रकट किया है। एक ही भूमि पर दोनों ने सूर्य की प्रथम किरणों को देखा, एक ही भूमि पर दोनों ने मनोहर बाल्य-जीवन को समाप्त करके यौवन में पदार्पण किया, एक ही कालेज में अध्ययन करके दोनों ने बी० ए० की उपाधि प्राप्त की और एक ही मन-प्राण होकर दोनों ने अपने-अपने जीवन की अमूल्य मणि को एक ही प्रेम-सूत्र में पिरोया। रमानाथ और विश्वनाथ का यह देव-दुर्लभ प्रगाढ़ प्रेम इस कुत्सित विश्व की कपट-नाट्यशाला में श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण के आदर्श चरित्र की भाँति एक स्वर्गीय दृश्य है।

विश्वनाथ आज रमानाथ के बिना ही कल्लोलिनी तट पर विचरण करने आये थे। यह रमानाथ के लिए प्रथम आश्चर्य था। अपने अतीत जीवन में रमानाथ ने विश्वनाथ के बिना और विश्वनाथ ने रमानाथ के बिना कोई भी कार्य नहीं किया था। नित्य ही दोनों एक स्थान पर भोजन करते, नित्य ही दोनों एक ही

कक्षा में अपने-अपने अध्ययन में प्रवृत्त होते। आज विश्वनाथ रमानाथ को छोड़ कर अपने चिन्ता-दग्ध हृदय को लेकर, कल्लोलिनी-तट पर कल्पना की सहायता से माता का करुणा पूर्ण मुख-मण्डल देखते-देखते विचरण कर रहे हैं। यह विश्वनाथ और रमानाथ के प्रेम इतिहास का एक नूतन अध्याय है।

जिस समय विश्वनाथ अपनी कक्षा से बाहर निकले थे, उस समय रमानाथ सो रहे थे। उन्हें निद्रादेवी की सर्व सन्ताप-हारिणी गोद में छोड़कर विश्वनाथ चले आये थे। रमानाथ ने जागकर देखा कि विश्वनाथ नहीं है। आश्चर्य और आवेग के साथ, सन्देह और संशय के साथ, रमानाथ शीघ्रता पूर्वक कल्लोलिनी-तट के अभिमुख में चल दिये।

जिस स्थल पर प्रेम की दो शीतल धाराएँ मिलती हैं, उस स्थान को भगवान् की अदृश्य करुणा-लहरी प्रयाग-तीर्थ में परिणत करती है। इस पवित्र त्रिवेणी-संगम पर स्नान करने वाले, योगदुर्लभ, परमपद को प्राप्त कर, विश्व को सन्तप्त संसार का—विश्व-प्रेम का पवित्र पाठ पढ़ाते हैं। रमानाथ और विश्वनाथ की सृष्टि क्या भगवान् ने इसी उद्देश्य से नहीं की ?

रमानाथ ने देखा, विश्वनाथ की मुख-श्री, दिनकर-किरण-सन्तप्त सुमन की भाँति, मलिन है, स्निग्ध करुणा-पूर्ण लोचन-युगल जल-पूर्ण हैं और कुसुम-कोमल शरीर शिथिल हो रहा है। रमानाथ ने आवेग से उनका हाथ पकड़ कर कहा—विश्वनाथ !

विश्वनाथ ने चौंककर कहा—कौन ? रमानाथ !

पतंग-प्रिया पद्मिनी, प्रोषितपतिका की भाँति, श्री विहीन

होकर संकुचित हो गई। पक्षिकुल-संरक्षक-विहीन गायक-समाज की भाँति, मूक हो गया। प्रकृति, परिश्रम के विश्राम की भाँति स्तब्ध हो गई। गगनांगण में विहार करता हुआ चन्द्रमा अपनी शुभ्र चन्द्रिका की शीतल धारा से धरणीदेवी के दिनकर-कर तप्त कलेवर का सिंचन करने लगा। कुमुदिनी प्रिय का चुम्बन पाकर प्रफुल्लित हो गई। ओषधियाँ अनुकूल नायक को प्राप्त करके स्नेह के आवेश में चमकने लगीं। रमानाथ ने कहा—विश्वनाथ, अपनी इस तीव्र व्यथा की बात मुझसे न कहकर तुमने मेरे साथ कैसा अन्याय किया है, सो तुम जानते हो ?

विश्वनाथ ने दुःखित स्वर में कहा—भैया, मैं सदा का दोषी हूँ। तुम्हारे प्रेम का मैंने अनादर किया हो, यह बात नहीं है। तुमसे मैंने कौन-सा रहस्य छिपाया है ? वास्तव में मेरे इस जीवन का समस्त इतिहास तो तुम्हारे हृदय की प्रेम पुस्तक में लिखा हुआ है। भैया मैं समझता था कि इस विश्व में सहानुभूति और करुणा की शीतल तरंगिणी अनवरुद्ध गति से बहती है, किन्तु नहीं, अब देखता हूँ कि प्रबल अत्याचार का प्रकाण्ड पर्वत, द्वेष की कठोर भित्ति, स्वार्थ-प्रवृत्ति का भीषण पाषाण-समूह, एकमत होकर पग-पग पर, महीतल को शीतल करने वाली इस निर्झरिणी के मार्ग का अवरोध कर रहे हैं। भारत-भूमि निर्बलों के रक्त से लाल हो रही है। हिमाँचल की कन्दराएँ बालक-बालिकाओं की क्रन्दन-ध्वनि से परिपूर्ण हो रही हैं। भारतीय गगन मण्डल अबलाओं की रोदन-ध्वनि से विदीर्ण हो रहा है। बोलो रमानाथ, विश्वेश्वर का सिंहासन फिर कब डोलेगा ?

कहते-कहते विश्वनाथ फिर अधीर हो उठे। रमानाथ ने

भी इस बार आवेश के साथ उत्तर दिया—डोलेगा ! अवश्य डोलेगा ! क्यों न डोलेगा ? किन्तु भाई, जब तक हमारे ही हृदय का करुणा-सिंहासन अचल भाव में स्थित रहेगा, जब तक हमारा रक्त धमनी में जल होकर बहता रहेगा, जब तक समस्त भारत एक मन, एक प्राण होकर एक ही उद्देश्य की ओर प्रवाहित नहीं होगा, जब तक अकर्मण्य बनकर केवल कल्पना द्वारा ही भारतवासी, भगवान् की करुणा को पुकारते हुए भारत के सौभाग्य को उज्ज्वल करने की व्यर्थ चेष्टा में प्रवृत्त होते रहेंगे, तब तक भगवान् का सिंहासन कदापि न डोलेगा। शैतान के वीभत्स हास्य में,कल्पना के गम्भीर गह्वर में, भारत की प्रार्थना—कर्महीन विनय-विलुप्त हो जायगी।

विश्वनाथ ने कुछ शान्त होकर कहा—कर्महीन विनय—निश्चेष्ट प्रार्थना—करुणामय भगवान के कर्ण कुहर में कदापि प्रवेश न करेगी। भारतवर्ष को इसी कर्म क्षेत्र में लाने के लिए मैं उद्विग्न हो रहा हूँ। सोचता हूँ; यदि इस सीमाबद्ध बुद्धि का इसी कर्म-क्षेत्र में, भारतवासियों को कर्मण्य बनाने के पुण्य प्रयास में शिव और शैतान के भयंकर संग्राम में, मातृ-देवी पर बलिदान हो जाय, तो इससे बढ़ कर और क्या है ?

रमानाथ ने आग्रहपूर्वक कहा—सत्य कहते हो भैया ! तुम्हारी आकांक्षा अभिनन्दनीय है। जानते हो, इस बलिदान का फल ध्रुव विजय है; हृदय का तप्त शोणित—प्रेम का पवित्र पीयूष-प्रवाह—अक्षय ज्योति को प्राप्त करने का अव्यर्थ साधन है।

विश्वनाथ ने उत्सुकता से पूछा—रमानाथ, बता सकते हो, इस महान् यज्ञ के अनुष्ठान के लिए क्या करना होगा ?

इसी समय निकुञ्ज की दूसरी ओर से एक नवयुवक सन्यासी ने गम्भीर ध्वनि में कहा—'त्याग'।

रमानाथ और विश्वनाथ चौंक उठे। उन्होंने देखा, एक शतायु संन्यासी सम्मुख खड़ा है। मुख पर अपूर्व तेज है। शरीर अत्यन्त सुन्दर एवं गठा हुआ है। एक हाथ में त्रिशूल है, दूसरे में भिक्षा-पात्र। संन्यासी ने कहा—बन्धु-द्वय, तुम दोनों की बातें सुनकर मुझे परम सुख प्राप्त हुआ है। चलो संन्यासी की कुटी को पवित्र करो।

रमानाथ और विश्वनाथ ने बद्धाञ्जलि प्रणाम किया। संन्यासी ने इषत् हास्य के साथ कहा—'विजय हो।'

रमानाथ और विश्वनाथ संन्यासी के पीछे-पीछे चल दिये। ग्राम-विहारिणी सरिता एक सुन्दर वन में प्रवेश करती है। वास्तव में एक विस्तृत वन के मध्य ही में होकर, मधुर कल-कल ध्वनि करती हुई अभिसारिका की भाँति, सिन्धु-पति की ओर अग्रसर होती है। प्रकृति की उसी बिहार स्थली में सरोजिनी शोभित सरिता के सुरम्य तट पर संन्यासी की लता-पत्रादि वेष्टित स्वनिर्मित कुटी है। संन्यासी की आज्ञा पाकर विश्वनाथ और रमानाथ, कुटी के बाहर ही, चन्द्रिका चर्चित दूर्वा के कोमल आस्तरण पर बैठ गये। संन्यासी भी उनके सम्मुख बैठ गया।

संन्यासी ने कहा—युगल बन्धु, जानते हो तुम्हारा कर्म-क्षेत्र दुग्ध-फेन सम कोमल शय्या नहीं, कण्टकाकीर्ण दुस्तर मार्ग है। विश्व के समस्त काल्पनिक बन्धनों को काट कर सब को एक प्रेम-सूत्र में गूँथना होगा। मातृ-ऋण कितना बड़ा है, सो तुम्हें बताने की आवश्यकता नहीं। इसी महान् ऋण से उऋण होने के लिये, दुःख की कठोर शृङ्खला में बँधी

हुई अपनी 'स्वर्गादपि गरीयसी' जन्म-भूमि को सुखी करने के लिए, तुम्हें संसार के समस्त सुख भोग को तिलाञ्जलि देनी होगी। आवश्यकता पड़ने पर जीवन का भी बलिदान करना होगा।

विश्वनाथ ने उत्साह पूर्वक कहा—भगवान्, चराचरेश्वरी भगवती कल्याण-सुन्दरी से यह विनय है कि मैं बार-बार जन्म लेकर मातृवेदी पर बलिदान हो जाऊँ। माता के चरण-तल में लोचन बिछा दूँ, यही हृदय की आकांक्षा है। हृदय का उत्तम शोणित देकर भगवान्! मातृ-मुख पर मधुर मुसकान देख सकूँ—ऐसा वर दीजिये। जीवन की साध यही है; चिर पालित-आशा का पुरस्कार यही है।

रमानाथ ने आवेश में कहा—पूज्यवर, देखना चाहता हूँ, माता की उस मधुर मुसकान को, जिसे देखकर विश्वेश्वर भी विस्मित और विमोहित हो गये थे। देखना चाहता हूँ, हिमाचल के तुषार-मण्डित सुवर्ण-शृङ्ग पर माता की फहराती हुई विजय-वैजयन्ती को। सुनना चाहता हूँ, सौख्य का वह श्रुति-मधुर कल-कल नाद और भेंट में देना चाहता हूँ यह पंजर-बद्ध हृदय।

सुनते-सुनते सन्यासी का मुख देदीप्यमान हो गया। उन युगल बन्धु की आवेश-पूर्ण वाणी सुनकर सन्यासी का कलेवर रोमाञ्चित हो गया। सन्यासी ने आग्रह तथा आवेश के साथ कहा—आओ प्रिय बन्धु-द्वय, मातृ-दर्शन करें।

६

युवक सन्यासी के साथ विश्वनाथ और रमानाथ ने कुटी के भीतर प्रवेश किया। प्रवेश करते ही विश्वनाथ और रमानाथ ने जो अनुपम दृश्य देखा, उसे देखकर वे एकदम

ही विमुग्ध हो गये। उन्होंने देखा, अनन्त-विभूतिमयी, परम लावण्यमयी, माता की करुणा-मूर्त्ति को। घृत-दीपक के उज्ज्वल प्रकाश में अपनी स्निग्ध आभा को मिला कर माता का सौख्य मुख-मण्डल उन तीनों पर करुणा की अविरल धारा बरसाने लगा।

माता का योगिनी-वेश था। वह सौम्य तेज से परिपूर्ण कलेवर गैरिक वस्त्र से आच्छादित था। एक हाथ में था कमल दूसरे में विजय-शंख, तीसरे में मनोहर वीणा और चौथे में चमचमाता हुआ त्रिशूल! मुख पर हास्य, लोचन में करुणा, ललाट पर तेज! आज भगवती मानो साधना रूप से प्रकट हुई थी।

विश्वनाथ, रमानाथ और सन्यासी ने माता को साष्टांग प्रणाम किया। प्रतिमा मानो स्वाभाविक हँसी के द्वारा आशीर्वाद लहरी से उन तीनों को सिक्त करने लगी।

संन्यासी कोकिल-कण्ठ से गाने लगा। हृदय के आवेश में विश्वनाथ और रमानाथ भी सन्यासी के स्वर में स्वर मिला के गाने लगे। मातृ-प्रतिमा मन्द हास्य करती हुई सुनने लगी—

गान

जयति जय जननी!

जीवन-मूरि ज्योति लोचन की, अरि कुल सकल प्रमथनी!
नित पयोधि परसत पद-पंकज, पुण्य-पियूष प्रस्रवनी!
वारत तन, मन, धन, जन, जीवन, जीवन-पाप-प्रशमनी!
माँगत नित 'हृदयेश' चरण-रति, मति-गति-मो-मन-बसनी!

गान समाप्त होने के बाद संन्यासी ने कहा—बन्धु-द्वय मातृचरण का स्पर्श करके प्रतिज्ञा करो कि हम माता की

उन्नति के लिए जीवन-दान देकर चेष्टा करने में भी पराङ्गमुख नहीं होंगे।

विश्वनाथ और रमानाथ ने मातृ-चरण छूकर प्रतिज्ञा की। उसी समय माता के कर-सरोजों से विश्वनाथ और रमानाथ के गले में दो मालायें गिर पड़ीं। माता ने मानो विजय-माला पहना कर कहा—'विजय हो।'

× × × ×

उसी रात्रि को, उसी पुण्य अवसर में, विश्वनाथ और रमानाथ ने अपने कर्त्तव्य मार्ग को ठीक-ठीक जान लिया। संसार का निःसार मोह-बन्धन काटकर विश्व-प्रेम के अनन्त आश्रय को प्राप्त करके, प्रकृति के पुण्य आशीर्वाद को अपने शीश पर धारण करके ऋषिपुञ्ज के मन्त्र-पूत जल से पवित्र होकर, देवताओं की अविरल पुष्पवृष्टि में, देवाङ्गनाओं के स्वर्गीय संगीत में 'स्वदेश-सेवा और सुख' का गम्भीर निनाद करते हुए दो निष्काम युवक सन्यासी-कर्त्तव्य की कठोर भूमि में अवतीर्ण हुए। चन्द्रदेव ने हँसकर कहा—शुभास्ते पंथानः।

कल्लोलिनी ने कलकल-ध्वनि में कहा—शुभास्ते पंथानः।

अचल ने अचल भाव में कहा—शुभास्ते पंथानः।

८

अकबरी लोटा

श्री अन्नपूर्णानन्द

[आप हिन्दी में हास्यरस की कथाओं के लिखने में अपना विशेष स्थान रखते हैं। भाषा सरल और चुस्त है। कहानी का आधार तथा वर्णन-क्रम श्री जी० पी० श्रीवास्तव के समान केवल शाब्दिक चहल-पहल वाला न होकर हृदय में मीठी गुदगुदी पैदा करता है और भाव-पूर्ण हास्य की सृष्टि करता है। लेखक ने बड़े चातुर्य से प्रस्तुत कहानी में लाला झाऊलाल की रक्षा की तथा पं० बिलवासी मिश्र को अपनी पत्नी के अप्रसन्न होने का अवसर भी नहीं आने दिया। पाठकों को कथा के अन्त तक यह अकबरी लोटा आश्चर्य का ही विषय बना रहा। पं० बिलवासी मिश्र की सच्ची मित्रता और सूझ को पढ़कर आप अवश्य उनकी बुद्धिमत्ता की प्रशंसा करेंगे।]

लाला झाऊलाल को खाने-पीने की कमी नहीं थी। काशी के ठठेरी बाजार में मकान था। नीचे की दुकानों से एक सौ रुपये मासिक के करीब किराया उतर आता था। कच्चे-बच्चे अभी थे नहीं, सिर्फ दो प्राणियों का खर्च था। अच्छा खाते थे; अच्छा पहनते थे। पर ढाई सौ रुपये तो एक साथ आँख सेकने के लिए भी न मिलते थे।

इसलिए जब उनकी पत्नी के एक दिन यकायक ढाई सौ

रुपये की माँग पेश की तब उनका जी एक वार जोर से सन-सनाया और फिर बैठ गया। जान पड़ा कि कोई वुल्ला है जो बिलाने जा रहा है। उनकी यह दशा देख कर उनकी पत्नी ने कहा—"डरिये मत आप देने में असमर्थ हों तो मैं अपने भाई से माँग लूँ।"

लाला झाऊलाल इस मीठी मार से तिलमिला उठे। उन्होंने किंचित रौब के साथ कहा—"अजी हटो ढाई सौ रुपये के लिए भाई से भीख माँगोगी! मुझसे ले लेना।"

"लेकिन मुझे इसी जिन्दगी में चाहिऐं।"

"अजी इसी सप्ताह में ले लेना।"

"सप्ताह से आपका तात्पर्य सात दिन से है या सात वर्ष से?"

लाला झाऊलाल ने रौब के साथ खड़े होते हुए कहा—"आज से सातवें दिन मुझसे ढाई सौ रुपये ले लेना।"

"मर्द की एक वात!"

"हाँ जी, हाँ! मर्द की एक वात।"

लेकिन जब चार दिन ज्यों-त्यों में यों ही वीत गये और रुपयों का कोई प्रबन्ध न हो सका, तब उन्हें चिन्ता होने लगी। प्रश्न अपनी प्रतिष्ठा का था; अपने ही घर में अपनी साख का था। देने का पक्का वादा करके न दे सके तो मन में वह क्या सोचेगी? उसकी नजरों में उनका क्या मूल्य रह जायगा? अपनी वाह-वाही की सैकड़ों गाथाएँ उसे सुना चुके थे। अब जो काम पड़ा तो चारों खाने चित्त हो रहे। यह पहली बार उसने मुँह खोलकर कुछ रुपयों का सवाल किया था इस समय अगर वे दुम दबाकर निकल भागते हैं तो फिर उसे क्या मुँह दिखलायेंगे? "मर्द की एक वात" यह

उसका फिकरा उनके कानों में गूँज-गूँज कर फिर गूँज उठता था।

खैर एक दिन और बीता। पाँचवें दिन घबरा कर उन्होंने पं० बिलवासी मिश्र को अपनी विपदा सुनायी। संयोग कुछ ऐसा बिगड़ा था कि बिलवासी जी भी उस समय बिल्कुल खुक्के थे। उन्होंने कहा कि मेरे पास है तो नहीं पर मैं कहीं से माँग-जाँच कर लाने की कोशिश करूँगा और अगर मिल गया तो कल शाम को तुम से मकान पर मिलूँगा।

यही शाम आज थी। हफ्ते का अन्तिम दिन। कल ढाई-सौ रुपया या तो गिन देना है या सारी हेकड़ी से हाथ धोना है। यह सच है कि कल रुपया न आने पर उनकी स्त्री उन्हें डामल-फाँसी न कर देगी—केवल जरा-सा हँस देगी। पर वह कैसी हंसी होगी? इस हँसी की कल्पना मात्र से लाला झाऊलाल की अन्तरात्मा में मरोड़ पैदा हो जाता था।

अभी पं० बिलवासी मिश्र नहीं आये। आज शाम को उनके आने की बात थी। उन्हीं का भरोसा था, यदि न आये तो? या कहीं रुपये का प्रबन्ध वे न कर सकें?

इसी उधेड़-बुन में पड़े हुए लाला झाऊलाल छत पर टहल रहे थे। कुछ प्यास मालूम पड़ी। उन्होंने नौकर को आवाज दी। नौकर नहीं था। खुद उनकी पत्नी पानी लेकर आयीं। आप जानते ही हैं कि हिन्दू समाज में स्त्रियों की कैसी सोचनीय अवस्था है। पति नालायक को प्यास लगती है तो स्त्री बेचारी को पानी लेकर हाजिर होना पड़ता है।

वे पानी तो जरूर लायीं पर गिलास लाना भूल गयी थीं। केवल लोटा पानी लिये हुए वे प्रकट हुईं। फिर लोटा भी संयोग से वह जो अपनी बेढङ्गी सूरत के कारण लाला झाऊ-

लाल को सदा से नापसन्द था। था तो नया, साल ही दो साल का बना, पर कुछ ऐसी गढ़न उस लोटे की थी कि उसका बाप डमरू, माँ चिलमिची रही हो।

लाला झाऊलाल ने लोटा ले लिया वे बोले कुछ नहीं, अपनी पत्नी का अदब मानते थे। मानना ही चाहिए। इसी को सभ्यता कहते हैं। जो पति अपनी पत्नी की पत्नी न हुआ वह पति कैसा ? फिर उन्होंने यह भी सोचा होगा कि लोटे में पानी हो तब भी गनीमत है, अभी अगर चूँ कर देता हूँ तो बाल्टी में जब भोजन मिलेगा तब क्या करना बाकी रह जायगा।

लाला झाऊलाल अपना गुस्सा पीकर पानी पीने लगे। उस समय वे छत की मुडेर के पास खड़े थे। जिन बुजुर्गों ने पानी पीने के सम्बन्ध में यह नियम बनाये थे कि 'खड़े-खड़े पानी न पियो, सोते समय पानी न पियो, दौड़ने के बाद पानी न पियो।' उन्होंने पता नहीं कभी यह भी नियम बनाया था या नहीं कि छत की मुडेर के पास खड़े होकर पानी न पियो। जान पड़ता है इस महत्त्वपूर्ण विषय पर उन लोगों ने कुछ नहीं कहा है।

इसलिये लाला झाऊलाल ने कोई बुराई नहीं की। मगर वे छत की मुडेर के पास खड़े होकर पानी पीने लगे। पर मुश्किल से दो एक घूँट वे पी पाये होंगे कि न जाने कैसे उनका हाथ हिल उठा और लोटा हाथ से छूट गया।

लोटे ने न दाहिने देखा न बायें। वह नीचे गली की ओर चल पड़ा अपने वेग में, उल्का को लजाता हुआ वह आँखों से ओझल हो गया। किसी जमाने में न्यूटन नाम के किसी खुराफाती ने पृथ्वी की आकर्षण शक्ति नाम की एक

चीज की ईजाद की थी। कहना न होगा कि यह सारी शक्ति इस समय इस लोटे के पक्ष में थी।

लाला झाऊलाल को काटो तो बदन में खून नहीं। ठठेरी बाजार, ऐसी चलती हुई गली में, ऊँचे तिमंजिले से भरे हुए लोटे का गिरना हँसी-खेल नहीं है। यह लोटा न जाने किस अनाधिकारी के खोपड़े पर काशीवास का सन्देशा लेकर पहुँचेगा।

कुछ हुआ भी ऐसा ही। गली में जोर का हल्ला उठा। लाला झाऊलाल जब तक दौड़ कर नीचे उतरे तब तक एक भारी भीड़ उनके आँगन में घुस आई।

लाला झाऊलाल ने देखा कि इस भीड़ में प्रधान पात्र एक अँग्रेज है जो नखशिख से भीगा हुआ है और जो अपने एक पैर को सहलाता हुआ दूसरे पैर पर नाच रहा है। उसी के पास उस अपराधी लोटे को भी देखकर लाला झाऊलालजी ने फौरन दो और दो जोड़कर स्थिति को समझ लिया। पूरा विवरण तो उन्हें पीछे प्राप्त हुआ।

हुआ था यह कि गली में गिरने के पूर्व लोटा एक दूकान के सायबान से टकराया वहाँ टकराकर उस दूकान पर खड़े उस अँग्रेज को उसने सांगोपांग स्नान कराया और फिर उसी के बूट पर जा गिरा। ध्यान देने की बात है कि हिन्दुस्तानी लोटा भी आखिर वहीं गिरा जहाँ हिन्दुस्तानी आदमी गिरते हैं।

अँग्रेज को जब यह मालूम हुआ कि लाला झाऊलाल ही उस लोटे के मालिक हैं तब उसने केवल एक काम किया। अपने मुँह को उसने खोल-खोल कर खुला छोड़ दिया।

लाला झाऊलाल को आज ही यह मालूम हुआ कि अँग्रेजी भाषा में गालियों का ऐसा प्रकांड कोष है।

इसी समय पं० बिलवासी मिश्र भीड़ को चीरते हुए आँगन में आते दिखाई पड़े। उन्होंने आते ही पहला काम यह किया कि उस अँग्रेज को छोड़कर और जितने आदमी आँगन में घुस आये थे सबको निकाल बाहर किया। फिर एक कुर्सी आँगन में रखकर उन्होंने साहब से कहा—'आपके पैर में शायद कुछ चोट आ गई है। आप आराम कुर्सी पर बैठ जाइये।'

साहब बिलवासी जी को धन्यवाद देते हुये बैठ गये और लाला झाऊलाल की ओर इशारा करके बोले—'आप इस शख्स को जानते हैं ?' 'बिल्कुल नहीं और मैं ऐसे आदमी को जानना भी नहीं चाहता जो निरीह राह चलतों पर लोटे से वार करे।'

मेरी समझ में "He is a dangerous criminal !" यानी एक खतरनाक पागल है।

नहीं मेरी समझ में "He is a dangerous lunatic ?" [नहीं यह खतरनाक मुजरिम है।]

परमात्मा ने लाला झाऊलाल की आँखों को इस समय कहीं देखने के साथ खाने की शक्ति दे दी होती तो यह निश्चय है कि अब तक बिलवासी जी को, ये अपनी आँखों से खा चुके होते। वे कुछ नहीं समझ पाते थे कि बिलवासी जी को इस समय हो क्या गया है।

साहब ने बिलवासी जी से पूछा—"तो अब क्या करना चाहिए ?"

"पुलिस में इस मामले की रिपोर्ट कर दीजिए, जिससे यह आदमी फौरन हिरासत में ले लिया जाय।"

"पुलिस स्टेशन है कहाँ?"

"चलिए।"

"अभी चलो। आपकी इजाजत हो तो पहले मैं इस लोटे को इस आदमी से खरीद लूँ। क्यों जी बेचोगे? मैं पचास रुपये तक इसके दाम दे सकता हूँ।"

लाला झाऊलाल तो चुप रहे पर साहव ने पूछा—"इस रद्दी लोटे का आप पचास रुपये दाम क्यों दे रहे हैं?"

"आप इस लोटे को रद्दी जानते हैं? आश्चर्य! मैं तो आपको एक विज्ञ और सुशिक्षित आदमी समझता था।"

"आखिर वात क्या है; कुछ वताइये भी?"

"यह जनाव! एक ऐतिहासिक लोटा जान पड़ता है; जान क्या पड़ता है मुझे पूरा विश्वास है कि यह वह प्रसिद्ध अकवरी लोटा है, जिसकी तलाश में संसार भर के म्यूजियम परेशान हैं।

"यह वात।"

जी हाँ जनाव! सोलहवीं शताब्दी की वात है। वादशाह हुमायूँ शेरशाह से हारकर भागा था और सिन्ध के रेगिस्तान में मारा-मारा फिर रहा था। एक अवसर पर प्यास से उसकी जान निकल रही थी। उस समय एक ब्राह्मण ने इसी लोटे से पानी पिला कर उसकी जान वचाई थी। हुँमायूँ के वाद जव अकवर दिल्लीश्वर हुआ तव उसने उस ब्राह्मण का पता लगा कर उससे इस लोटे को ले लिया और इसके वदले में उसे इसी प्रकार के दस सोने के लोटे प्रदान किये। यह लोटा सम्राट् अकवर को बहुत प्यारा था इसी से इसका

नाम अकबरी लोटा पड़ा। वह बराबर इसी से वजू करता था। सन् ५७ तक इसके शाही घराने में ही रहने का पता है। पर इसके बाद लापता हो गया। कलकत्ते के म्यूजियम में इसका प्लास्टर का मॉडल रक्खा हुआ है। पता नहीं यह लोटा इस आदमी के पास कैसे आया! म्यूजियम वालों को पता चले तो फैंसी दाम देकर खरीद ले जायँ।"

इस विवरण को सुनते-सुनते साहब की आँखों पर लोभ और आश्चर्य का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे कौड़ी के आकार से बढ़कर पकौड़ी के आकार की हो गईं। उसने बिलवासी जी से पूछा—"तो आप इस लोटे को लेकर क्या करियेगा?"

"मुझे पुरानी और ऐतिहासिक चीजों के संग्रह करने का शौक है।"

"मुझे भी पुरानी और ऐतिहासिक चीजों के संग्रह करने का शौक है। जिस समय यह लोटा मेरे ऊपर गिरा उस समय मैं यही कर रहा था। उस दूकान पर से मैं पीतल की कुछ पुरानी मूर्तियाँ खरीद रहा था।"

"जो कुछ हो लोटा मैं ही खरीदूँगा।

"वाह आप कैसे खरीदेंगे? मैं ख़रीदूँगा। मेरा हक़ है।"

"हक़ है?"

"जरूर हक़ है। यह बतलाइये कि उस लोटे के पानी से आपने स्नान किया या मैंने?"

"आपने।"

"वह आपके पैरों पर गिरा या मेरे?"

"आपके।"

"अँगूठा उसने आपका भुरता किया या मेरा?"

"आपका।"

"इसलिये उसे खरीदने का हक मेरा है।"

"यह सब झोल है। दाम लगाइये, जो अधिक दे वह ले जाय।"

"यही सही। आप उसका पचास रुपया लगा रहे थे, मैं सौ देता हूँ।"

"मैं डेढ़ सौ देता हूँ।"

"मैं दो सौ देता हूँ।"

"अजी मैं अढ़ाई सौ देता हूँ।"—यह कह बिलवासी जी ने ढाई सौ के नोट लाला झाऊलाल के आगे फेंक दिए।

साहब को भी अब ताव आ गया। उसने कहा—"आप ढाई सौ देते हैं तो मैं पाँच सौ देता हूँ, अब चलिये?"

बिलवासी जी अफसोस के साथ अपने रुपये उठाने लगे, मानों अपनी आशाओं की लाश उठा रहे हों। साहब की ओर देख कर उन्होंने कहा—"लोटा आपका हुआ, ले जाइये मेरे पास ढाई सौ से अधिक हैं नहीं।"

यह सुनना था कि साहब के चेहरे पर प्रसन्नता की कूची फिर गई। उसने झपट कर लोटा उठा लिया और बोला—"अब मैं हँसता हुआ अपने देश लौटूँगा। मेजर डगलस की डींग सुनते-सुनते मेरे कान पक गये थे।"

"मेजर डगलस कौन हैं?"

"मेजर डगलस मेरे पड़ौसी हैं। पुरानी चीजों को संग्रह करने में मेरी उनकी दौड़ रहती है। गत वर्ष वे हिन्दुस्तान आये थे और यहाँ से "जहाँगीरी अण्डा" ले गये थे।"

"जहाँगीरी अण्डा" जहाँगीरी अण्डा। मेजर डगलस ने समझ रक्खा था कि हिन्दुस्तान से वे ही अच्छी चीज ले जा सकते हैं।"

"पर जहाँगीरी अण्डा है क्या ?"

"आप जानते होंगे कि एक कबूतर ने नूरजहाँ से जहाँगीर का प्रेम कराया था। जहाँगीर के पूछने पर कि मेरे एक कबूतर को तुमने कैसे उड़ जाने दिया, नूरजहाँ ने उसके दूसरे कबूतर को भी उड़ाकर बताया था कि ऐसे। उसके इस भोलेपन पर जहाँगीर सौ जान से निछावर हो गया, उसी क्षण से उसने अपने को नूरजहाँ के हाथों वय कर दिया। कबूतर का एहसान वह नहीं भूला। उसके एक अण्डे को बड़े जतन से रख छोड़ा। एक बिल्लोर की हाँड़ी में वह उसके सामने टँगा रहता था। बाद में वही अण्डा जहाँगीरी अण्डे के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसी को मेजर डगलस ने पारसाल दिल्ली में एक मुसलमान सज्जन से तीन सौ रुपये में खरीदा।"

"यह बात।"

"हाँ, पर अब वे मेरे आगे दून की नहीं ले सकते। मेरा अकबरी लोटा उनके जहाँगीरी अण्डे से भी एक पुश्त पुराना है।"

"इस रिश्ते से तो आपका लोटा उस अण्डे का बाप हुआ।"

साहब ने लाला झाऊलाल को पाँच सौ रुपये देकर अपनी राह ली। लाला झाऊलाल का चेहरा इस समय देखते बनता था। जान पड़ता था कि मुँह पर छः दिन की बढ़ी हुई दाढ़ी का एक-एक बाल मारे प्रसन्नता के लहरा रहा है। उन्होंने पूछा—"बिलवासी जी! आप मेरे लिए ढाई सौ रुपया घर से लेकर चले थे ? पर आपके पास तो थे नहीं।"

"इस भेद को मेरे सिवाय मेरा ईश्वर ही जानता है। आप उसी से पूछ लीजिये। मैं नहीं बताऊँगा।"

"पर आप चले कहाँ ? अभी मुझे आप से काम है; दो घण्टे तक।"

"दो घण्टे तक !"

"हाँ और क्या ? अभी मैं आपकी पीठ ठोंककर शावाशी दूँगा; एक घण्टा इसमें लगेगा फिर गले लगाकर धन्यवाद दूँगा; एक घण्टा इसमें भी लग जायगा।"

"अच्छा पहले अपने पाँच-सौ रुपये गिनकर सहेज लीजिये।"

रुपया अगर अपना हो तो उसे सहेजना एक ऐसा सुखद और सम्मोहक कार्य है कि मनुष्य उस समय सहज में ही तन्मयता प्राप्त कर लेता है। लाला झाऊलाल ने अपना कार्य समाप्त करके ऊपर देखा। पर बिलवासी जी इस वीच अन्तर्ध्यान हो गये थे।

वे लम्बे डग मारते हुए गली में चले जा रहे थे।

उस दिन रात्रि में बिलवासी जी को देर तक नींद नहीं आई। वे चादर लपेटे चारपाई पर पड़े रहे। एक वजे वे उठे। धीरे से बहुत धीरे से, सोई हुई पत्नी के गले से उन्होंने सोने की वह सिकड़ी निकाली जिसमें एक ताली बँधी हुई थी फिर उसके कमरे में जाकर उन्होंने उस ताली से सन्दूक खोली। उसमें ढाई सौ के नोट ज्यों के त्यों रख कर उन्होंने उसे बन्द कर दिया। फिर दबे पाँव लौटकर ताली को उन्होंने पूर्ववत् अपनी पत्नी के गले में डाल दिया। इसके बाद उन्होंने हँसकर अँगड़ाई ली, अँगड़ाई लेकर लेट कर मर गये।

दूसरे दिन सुबह आठ वजे तक वे मरे रहे।

६
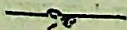
मुक्ति-मार्ग

श्री प्रेमचन्द

[श्री प्रेमचन्द की यह कथा प्रतिशोध का वैज्ञानिक विश्लेषण है। झींगुर और बुद्धू दोनों ने अपने कार्यों का समुचित फल प्राप्त किया परन्तु दोनों को सन्तोष था कि दोनों ने एक दूसरे से अपना अपराध प्रकट कर दिया। लेखक ने देहाती जीवन का विशेष कर किसानों की पारस्परिक स्पर्धा का बड़ा मार्मिक चित्र अङ्कित किया है। भाषा भी बिलकुल पात्रों के अनुरूप ही है। किसानों में आये दिन इसी प्रकार की दूषित मनोवृत्ति रहती है। इस कहानी द्वारा प्रेमचन्दजी ने किसानों को एक उत्तम शिक्षा दी है जिसका स्वयं झींगुर और बुद्धू ने अनुभव किया। प्रथम कहानी 'रानी सारन्धा' से 'सम्मान की रक्षा' और इस कहानी से "स्पर्धा से हानि" दो शिक्षाएँ उपलब्ध होती हैं। श्री प्रेमचन्दजी के "सूक्ष्म भावात्मक अन्वेषण" का इन कहानियों से परिज्ञान होता है।]

सिपाही को अपनी लाल पगड़ी पर, सुन्दरी को अपने गहनों पर और वैद्य को अपने सामने बैठे हुए रोगियों पर जो घमण्ड होता है, वही किसान को अपने खेतों को लहराते हुए देखकर होता है। झींगुर अपने ऊख के खेतों को देखता, तो उस पर नशा-सा छा जाता। तीन बीघे ऊख थी। इसके ६००) तो अनायास ही मिल जायँगे। और, जो कहीं

भगवान् ने डाँड़ी तेज कर दी, तो फिर क्या पूछना ? दोनों बैल बुड्ढे हो गए। अब की नई गोईं बटेसर के मेले से ले आवेगा। कहीं दो बीघे खेत और मिल गया; तो लिखा लेगा। रुपयों की क्या चिन्ता है। बनिये अभी से उसकी खुशामद करने लगे थे। ऐसा कोई न था, जिससे उसने गाँव में लड़ाई न की हो। वह अपने आगे किसी को कुछ समझता ही न था।

एक दिन संध्या के समय वह अपने बेटे को गोद में लिए मटर की फलियाँ तोड़ रहा था। इतने में उसे भेड़ों का एक झुण्ड अपनी तरफ आता दिखाई दिया। वह अपने मन में कहने लगा—'इधर से भेड़ों का निकलने का रास्ता न था। क्या खेत की मेड़ पर से भेड़ों का झुण्ड नहीं जा सकता था ? भेड़ों को उधर से लाने की क्या जरूरत ? ये खेत को कुचलेंगी, चरेंगी। इसका डाँड़ कौन देगा ? मालूम होता है, बुद्धू गड़रिया है। बच्चा को घमण्ड हो गया है तभी तो खेतों के बीच में भेड़ें लिए चला आता है। जरा इसकी ढिठाई तो देखो ! देख रहा है कि मैं खड़ा हूँ फिर भी भेड़ों को लौटाता नहीं। कौन मेरे साथ कभी रियायत की है कि मैं इनकी मुरोवत करूँ। अभी एक भेड़ा मोल माँगूँ, तो पाँच ही रुपये सुनावेगा। सारी दुनिया में चार-चार रुपये के कम्बल बिकते हैं पर यह पाँच रुपये से नीचे की बात नहीं करता।

इतने में भेड़ें खेत के पास आ गईं। झींगुर ने ललकार कर कहा—"अरे, ये भेड़ें कहाँ लिये आते हो ? कुछ सूझता है कि नहीं ?"

बुद्धू नम्र भाव से बोला—"महतो, डाँड़ पर से निकल जायँगी। घूमकर जाऊँगा, तो कोस भर का चक्कर पड़ेगा।"

झींगुर—"तो तुम्हारा चक्कर बचाने के लिए मैं अपना

खेत क्यों कुचलवाऊँगा ? डाँड़ ही पर से ले जाना है, तो खेतों के डाँड़ से क्यों नहीं ले गये ? क्या मुझे कोई चूहड़-चमार समझ लिया है ? या धन का घमण्ड हो गया है ? लौटाओ इनको ।"

बुद्धू—"महतो, आज निकल जाने दो। फिर कभी इधर से आऊँ तो जो चाहे सजा देना।"

झींगुर—"कह दिया कि लौटाओ इन्हें। अगर एक भेड़ भी मेड़ पर आई तो समझ लो तुम्हारी खैर नहीं है।"

बुद्धू—"महतो, अगर तुम्हारी एक बेल भी किसी भेड़ के पैरों तले आ जाय, मुझे बिठाकर सौ गालियाँ देना।"

बुद्धू बात तो बड़ी नम्रता से कर रहा था, किन्तु लौटने में हेटी समझता था। उसने मन में सोचा—इसी तरह जरा-जरा सी धमकियों पर भेड़ों को लौटाने लगा, तो फिर मैं भेड़ें चरा चुका। आज लौट जाऊँ तो कल को कहीं निकलने का रास्ता ही न मिलेगा। सभी रौब जमाने लगेंगे।

बुद्धू भी पोढ़ा आदमी था। १२ कोड़ी भेड़ें थीं, उन्हें खेतों में बिठाने के लिए फी रात ।।) कोड़ी मजदूरी मिलती थी। इसके उपरान्त दूध बेचता था, ऊन के कम्बल बनाता था। सोचने लगा—इतने गरम हो रहे हैं मेरा कर ही क्या लेंगे ? कुछ इनका दबेल तो हूँ नहीं। भेड़ों ने जो हरी-हरी पत्तियाँ देखीं, तो अधीर होकर खेत में घुस पड़ीं।' बुद्धू उन्हें डण्डों से मार-मार कर खेत के किनारे से हटाता था, और वे इधर-उधर से निकल कर खेत में जा पड़ती थीं। झींगुर ने आग होकर कहा—"तुम मुझसे हेकड़ी जताने चले हो तो तुम्हारी सारी हेकड़ी निकाल दूँगा।" ९

बुद्धू—"तुम्हें देखकर चौंकती हैं। तुम हट जाओ, तो मैं सब को निकाल ले जाऊँ।"

झींगुर ने लड़के को तो गोद से उतार दिया, और अपना डण्डा सँभालकर भेड़ों पर पिल पड़ा। धोबी भी इतनी निर्दयता से अपने गधे को न पीटता होगा। किसी भेड़ की टाँग टूटी, किसी की कमर टूटी। सब ने बें-बें का शोर मचाना शुरू किया। बुद्धू चुपचाप खड़ा अपनी सेना का विध्वंस अपनी आँखों से देखता रहा। वह न भेड़ों को हाँकता था, न झींगुर से कुछ कहता था। बस खड़ा तमाशा देखता रहा। दो मिनट में झींगुर ने इस सेना को अपने अमानुषिक पराक्रम से मार भगाया। मेष-दल का संहार करके विजय गर्व से बोला—"अब सीधे चले जाओ! फिर इधर से आने का नाम न लेना।"

बुद्धू ने आहत भेड़ों की ओर देखते हुए कहा—"झींगुर तुमने यह अच्छा काम नहीं किया। पछताओगे!"

२

केले को काटना भी उतना आसान नहीं है, जितना किसान से बदला लेना। उसकी सारी कमाई खेतों में रहती है या खलियानों में। कितनी ही दैविक और भौतिक आपदाओं के बाद कहीं अनाज घर में आता है और जो कहीं इन आपदाओं के साथ विद्रोह ने भी सन्धि कर ली, तो बेचारा किसान कहीं का नहीं रहता। झींगुर ने आकर दूसरों से इस संग्राम का वृत्तान्त कहा, तो लोग समझाने लगे—"झींगुर तुमने बड़ा अनर्थ किया। जानकर अनजान बनते हो! बुद्धू को जानते नहीं, कितना झगड़ालू आदमी है। अब भी कुछ नहीं बिगड़ा। जाकर उसे मनालो। नहीं तो तुम्हारे साथ सारे गाँव पर

आफत आ जायगी।" झींगुर की समझ में बात आई, पछताने लगा कि मैंने कहाँ से कहाँ उसे रोका। अगर भेड़ें थोड़ा-बहुत चर ही जातीं, तो कौन मैं उजड़ा जाता था। वास्तव में हम किसानों का कल्याण दबे रहने में ही है। ईश्वर को भी हमारा सिर उठाकर चलना अच्छा नहीं लगता। जी तो बुद्धू के घर जाने को न चाहता था, किन्तु दूसरों के अग्रह से मजबूर होकर चला। अगहन का महीना था, कुहरा पड़ रहा था। चारों ओर अन्धकार छाया हुआ था। गाँव से बाहर निकला ही था कि सहसा अपने ऊख के खेत की ओर अग्नि की ज्वाला देखकर चौंक पड़ा। छाती धड़कने लगी। खेत में आग लगी हुई थी। बेतहाशा दौड़ा। मनाता जाता था कि मेरे खेत में न हो। पर ज्यों-ज्यों समीप पहुँचता था, यह आशामय भ्रम शांत होता जाता था। वह अनर्थ हो ही गया, जिसके निवारण के लिये घर से चला था। हत्यारे ने आग लगा दी और मेरे पीछे सारे गाँव को चौपट किया। उसे ऐसा जान पड़ता था कि वह खेत आज बहुत समीप आ गया है, मानो बीच के परती खेतों का अस्तित्व ही नहीं रहा। अन्त में जब वह खेत पर पहुँचा, तो आग प्रचण्ड रूप धारण कर चुकी थी। झींगुर ने 'हाय-हाय' मचाना शुरू किया। गाँव के लोग दौड़ पड़े और खेतों से अरहर के पौधे उखाड़-उखाड़ कर आग को पीटने लगे। अग्नि-मानव-संग्राम का भीषण दृश्य उपस्थिति हो गया। एक पहर तक हाहाकर मचा रहा। कभी एक पक्ष प्रबल होता था, कभी दूसरा। अग्नि-पक्ष के योद्धा मर-मरकर जी उठते थे और द्विगुण शक्ति से, रणोन्मत्त होकर शस्त्र-प्रहार करने लगते थे। मानव-पक्ष में जिस योद्धा की कीर्ति सब से उज्ज्वल थी, वह बुद्धू था। बुद्धू कमर तक धोती चढ़ाये, प्राण

हथेली पर लिए, अग्नि-राशि में कूद पड़ता था, और शत्रुओं को परास्त करके बाल-बाल बचकर निकल आता था। अन्त में मानव-दल की विजय हुई, किन्तु ऐसी विजय, जिस पर हार भी हँसती। गाँव-भर की ऊख जल कर भस्म हो गई और ऊख के साथ सारी अभिलाषाएँ भी भस्म हो गईं।

आग किसने लगाई, यह खुला हुआ भेद था; पर किसी को कहने का साहस न था। कोई सबूत नहीं। प्रमाणहीन तर्क का मूल्य ही क्या। झींगुर को घर से निकलना मुश्किल हो गया। जिधर जाता, ताने सुनने पड़ते। लोग प्रत्यक्ष कहते थे। "यह आग तुमने लगवाई। तुम्हीं ने हमारा सर्वनाश किया। तुम्हीं मारे घमंड के धरती पर पैर न रखते थे। आप के आप गए, अपने साथ गाँव-भर को डुबो दिया। बुद्धू को न छेड़ते, तो आज क्यों यह दिन देखना पड़ता?" झींगुर को अपनी बरबादी का इतना दुःख न था, जितना इन जली-कटी बातों का। दिन-भर घर में बैठा रहता। पूस का महीना आया। जहाँ सारी रात कोल्हू चला करते थे, गुड़ की सुगन्ध उड़ती रहती थी, भट्टियाँ जलती रहती थीं, और लोग भट्टियों के सामने बैठे हुक्का पिया करते थे; वहाँ सन्नाटा छाया हुआ था। ठंड के मारे साँझ ही से किवाड़ें बन्द करके पड़ रहते और झींगुर को कोसते। माघ और भी कष्टदायक था। ऊख केवल धन-दाता ही नहीं, किसानों का जीवन-दाता भी है। उसी के सहारे किसानों का जाड़ा कटता है। गरम रस पीते हैं, ऊख की पत्तियों से तापते हैं, उसके अगौरे पशुओं को खिलाते हैं। गाँव के सारे कुत्ते जो रात को भट्टियों की राख में सोया करते थे, ठंड से मर गए। कितने ही जानवर चारे के अभाव से चल बसे। शीत का प्रकोप हुआ और सारा गाँव खाँसी-

बुखार में ग्रस्त हो गया और सारी विपत्ति झींगुर की करनी थी—अभागे हत्यारे झींगुर की।

झींगुर ने सोचते-सोचते निश्चय किया कि बुद्धू की दशा भी अपनी ही सी बनाऊँगा। उसके कारण मेरा सर्वनाश हो गया, और वह चैन की वंशी बजा रहा है। मैं भी उसका सर्वनाश किये बिना चैन न लूँगा।

जिस दिन इस घातक कलह का बीजारोपण हुआ, उसी दिन से बुद्धू ने इधर आना छोड़ दिया था। झींगुर ने उससे रब्त-जब्त बढ़ाना शुरू किया। वह बुद्धू को दिखाना चाहता था कि तुम्हारे ऊपर मुझे बिलकुल सन्देह नहीं है। एक दिन कम्बल लेने के बहाने गया; फिर दूध लेने के बहाने। बुद्धू उसका खूब आदर-सत्कार करता। चिलम तो आदमी दुश्मन को भी पिला देता है। वह उसे बिना दूध और शर्बत पिलाए न आने देता। झींगुर आजकल एक सन लपेटने वाली कल में मजदूरी करने जाया करता था। बहुधा कई-कई दिनों की मजदूरी इकट्ठी मिलती थी। बुद्धू ही की तत्परता से झींगुर का रोजाना का खर्च चलता था। अतएव झींगुर ने खूब रब्त-जब्त बढ़ा लिया। एक दिन बुद्धू ने पूछा—"क्यों झींगुर, अगर अपनी ऊख जलाने वाले को पा जाओ तो क्या करो? सच कहना।"

झींगुर ने गम्भीर भाव से कहा—"मैं उससे कहूँ भैया, तुमने जो कुछ किया अच्छा किया। मेरा घमण्ड तोड़ दिया; मुझे आदमी बना दिया।"

बुद्धू—"मैं जो तुम्हारी जगह होता, तो बिना उसका घर जलाए न मानता।"

झींगुर—"चार दिन की ज़िन्दगानी में वैर-विरोध बढ़ाने

से क्या फायदा ? मैं तो बरबाद हुआ ही, अब उसे बरबाद करके क्या पाऊँगा ?"

बुद्धू—"बस, यही आदमी का धर्म है। पर भाई क्रोध के बस में होकर बुद्धि उल्टी हो जाती है।"

४

फागुन का महीना था। किसान ऊख बोने के लिए खेतों को तैयार कर रहे थे। बुद्धू का बाजार गर्म था। भेड़ों की लूट मची हुई थी। दो-चार आदमी नित्य द्वार पर खड़े खुशामदें किया करते। बुद्धू किसी से सीधे मुँह बात न करता। भेड़ रखने की फीस दूनी कर दी थी। अगर कोई ऐतराज करता तो वेलाग कहता—"तो भैया, भेड़ तुम्हारे गले तो नहीं लगाता हूँ। जो न चाहो मत रक्खो। लेकिन मैंने जो कुछ कह दिया है, उससे एक कौड़ी भी कम नहीं हो सकती।" गरज थी, लोग इस रुखाई पर भी उसे घेरे रहते थे, मानो पण्डे किसी यात्री के पीछे पड़े हों।

लक्ष्मी का आकार तो बहुत बड़ा नहीं और वह भी समयानुसार छोटा-बड़ा होता रहता है। यहाँ तक कि कभी वह अपना विराट् आकार समेट कर उसे कागज के चन्द अक्षरों में छिपा लेती हैं। कभी-कभी तो मनुष्य की जिह्वा पर जा बैठती हैं; आकार का लोप हो जाता है। किन्तु उनके रहने को बहुत स्थान की जरूरत होती है। यह आईं और घर बढ़ने लगा। छोटे घर में उनसे नहीं रहा जाता। बुद्धू का घर भी बढ़ने लगा। द्वार पर बरामदा डाला गया, दो की जगह छः कोठरियाँ बनवाईं। यों कहिए कि मकान नए सिरे से बनने लगा। किसी किसान से लकड़ी माँगी, किसी से खपरों का आँवा लगाने के लिये उपले, किसी से बाँस और

किसी से सरकन्डे। दीवार की उठवाई देनी पड़ी। वह भी नकद नहीं भेड़ों के बच्चों के रूप में। लक्ष्मी का यह प्रताप है। सारा काम बेगार में हो गया। मुफ्त में अच्छा खासा घर तैयार हो गया। गृह-प्रवेश के उत्सव की तैयारियाँ होने लगीं।

इधर झींगुर दिन-भर मजदूरी करता तो कहीं आधा पेट अन्न मिलता। बुद्धू के घर में कंचन बरस रहा था। झींगुर जलता था, तो क्या बुरा करता था? यह अन्याय किससे सहा जायगा?

एक दिन वह टहलता हुआ चमारों के टोले की तरफ चला गया। हरिहर को पुकारा। हरिहर ने आकर राम-राम की और चिलम भरी। दोनों पीने लगे। यह चमारों का मुखिया बड़ा दुष्ट आदमी था। सब किसान इससे थर-थर काँपते थे

झींगुर ने चिलम पीते-पीते कहा—"आजकल फाग-वाग नहीं होता क्यों? सुनाई नहीं देता।"

हरिहर—"फाग क्या हो; पेट के धन्धे से छुट्टी ही नहीं मिलती। कहो तुम्हारी आजकल कैसी निभती है।"

झींगुर—"क्या निभती है। नकटा जिया बुरे हवाल। दिन भर कल में मजदूरी करते हैं, तो चूल्हा जलता है। चाँदी तो आजकल बुद्धू की है। रखने को ठौर नहीं मिलता। नया घर बना, भेड़ें और ली हैं। अब गृह परवेस की धूम है। सातों गाँव में सुपारी जायगी।"

हरिहर—"लक्ष्मी मैया आती हैं, तो आदमी की आँखों में सील आ जाती है। पर उसको देखो, धरती पर पैर ही नहीं रखता। बोलता है, तो ऐंठ कर बोलता है।"

झींगुर—"क्यों न ऐंठे, इस गाँव में कौन है उसकी टक्कर का ? पर यार यह अनीति तो नहीं देखी जाती। भगवान् दे तो सिर झुकाकर चलना चाहिए। यह नहीं कि अपने बराबर किसी को समझे ही नहीं। उसकी डींग सुनता हूँ, तो बदन में आग लग जाती है। कल का बागी आज का सेठ। चला है हमीं से अकड़ने। अभी कल लँगोटी लगाए खेतों में कौए हँकाया करता था आज उसका आसमान में दिया जलता है।"

हरिहर—"कहो, तो कुछ उताजोग करूँ ?"

झींगुर—"क्या करोगे ? इसी डर से तो वह गाय-भैंस नहीं पालता।"

हरिहर—भेड़ें तो हैं ?"

झींगुर—"क्या, बगला मारे पखना हाथ।"

हरिहर—"फिर तुम्हीं सोचो।"

झींगुर—"ऐसी जुगत निकालो कि फिर पनपने न पावे।"

इसके बाद फुस-फुस करके बात होने लगी। यह एक रहस्य है कि भलाइयों में जितना द्वेष होता है, बुराइयों में उतना ही प्रेम। विद्वान्-विद्वान् को देखकर, साधु-साधु को देखकर और कवि-कवि को देखकर जलता है। एक दूसरे की सूरत नहीं देखना चाहता। पर जुआरी-जुआरी को देखकर, शराबी-शराबी को देखकर, चोर-चोर को देखकर सहानुभूति दिखाता है, सहायता करता है। एक पण्डितजी अगर अँधेरे में ठोकर खाकर गिर पड़ें तो दूसरे पण्डितजी उन्हें उठाने के बदले दो ठोकरें और लगावेंगे कि वह फिर उठ ही न सके। पर एक चोर पर आफत आई देख दूसरा चोर उसकी आड़ कर लेता है। बुराई से सब घृणा करते हैं, इसलिये बुरों में परस्पर [illegible] होता है। भलाई की सारा

संसार प्रशंसा करता है, इसलिये भलों में विरोध होता है। चोर को मार कर चोर क्या पावेगा? घृणा। विद्वान् का अपमान करके विद्वान् क्या पावेगा? यश।

झींगुर और हरिहर ने सलाह कर ली। षड्यन्त्र रचने की विधि सोची गई। जिसका स्वरूप, समय और क्रम ठीक किया गया। झींगुर चला, तो अकड़ा जाता था। मार लिया दुश्मन को, अब कहाँ जाता है।

५

दूसरे दिन झींगुर काम पर जाने लगा, तो पहले बुद्धू के घर पहुँचा। बुद्धू ने पूछा—"क्यों आज नहीं गए क्या?"

झींगुर—"जा तो रहा हूँ। तुमसे यह कहने आया था कि मेरी बछिया को अपनी भेड़ों के साथ क्यों नहीं चरा दिया करते। बेचारी खूँटे से बँधी-बँधी मरी जाती है। न घास, न चारा, क्या खिलावें?"

बुद्धू—"भैया में गाय-भैंस नहीं रखता। चमारों को जानते हो, एक ही हत्यारे होते हैं। इसी हरिहर ने मेरी दो गउएँ मार डालीं। न जाने क्या खिला देता है। तब से कान पकड़े कि अब गाय-भैंस न पालूँगा। लेकिन तुम्हारी एक ही बछिया है, उसका कोई क्या करेगा। जब चाहो पहुँचा दो।"

यह कह कर बुद्धू अपने गृहोत्सव का सामान उसे दिखाने लगा। घी, शक्कर, मैदा, तरकारी सब मँगा रक्खा था। केवल सत्यनारायणजी की कथा की देर थी। झींगुर की आँखें खुल गईं। ऐसी तैयारी न उसने स्वयं कभी की थी; और न किसी को करते देखी थी। मजदूरी करके घर लौटा, तो सबसे पहला काम जो उसने किया, वह अपनी बछिया को बुद्धू के घर पहुँचाना था। उसी रात को बुद्धू के यहाँ

सत्यनारायण की कथा हुई। ब्रह्म-भोज़न भी किया गया। सारी रात विप्रों का आगत-स्वागत करके गुजरी। भेड़ों के झुण्ड में जाने का अवकाश ही न मिला। प्रातःकाल भोजन करके उठा ही था (क्योंकि रात का भोजन सवेरे मिला) कि एक आदमी ने आकर खबर दी—"बुद्धू, तुम यहाँ बैठे हो, उधर भेड़ों में बछिया मरी पड़ी है। भले आदमी उसकी पगहिया भी नहीं खोली थी।"

बुद्धू ने सुना और मानो ठोकर लग गई। झींगुर भी भोजन करके वहीं बैठा था। बोला—"हाय मेरी बछिया! चलो जरा देखूँ तो। मैंने तो पगहिया नहीं लगाई थी। उसे भेड़ों में पहुँचा कर अपने घर चला गया। तुमने यह पगहिया कब लगा दी?"

बुद्धू—"भगवान् जानें, जो मैंने उसकी पगहिया देखी भी हो। मैं तब से भेड़ों में गया ही नहीं।"

झींगुर—"जाने न तो पगहिया कौन लगा देता? गए होगे, याद न आती होगी।"

एक ब्राह्मण—"मरी तो भेड़ों में ही न? तो दुनिया यही कहेगी कि बुद्धू की असावधानी से उसकी मृत्यु हुई, पगहिया किसी की हो।"

हरिहर—"मैंने कल साँझ को इन्हें भेड़ों में बछिया को बाँधते देखा था।"

बुद्धू—"मुझे"

हरिहर—"तुम नहीं लाठी कन्धे पर रक्खे बछिया को बाँध रहे थे?"

बुद्धू—"बड़ा सच्चा है तू। तूने मुझे बछिया को बाँधते देखा था?"

हरिहर—"तो मुझ पर काहे को बिगड़ते हो भाई ? तुमने नहीं बाँधी, नहीं सही।"

ब्राह्मण—"इसका निश्चय करना होगा। गौ-हत्या का प्रायश्चित करना पड़ेगा। कुछ हँसी-ठट्टा है!"

झींगुर—"महाराज, कुछ जान-बूझकर तो बाँधी नहीं।"

ब्राह्मण—"इससे क्या होता है ? हत्या इसी तरह लगती है, कोई गऊ को मारने नहीं जाता।"

झींगुर—हाँ, गउओं को खोलना-बाँधना है तो जोखिम का काम।"

ब्राह्मण—"शास्त्रों में इसे महा पाप कहा है। गऊ की हत्या ब्राह्मण की हत्या से कम नहीं।"

झींगुर—"हाँ, फिर गऊ तो ठहरी ही, इसी से न इसका मान होता है। जो माता, सो गऊ। लेकिन महाराज चूक हो गई। कुछ ऐसा कीजिए कि थोड़े में बेचारा निपट जाय।"

बुद्धू खड़ा सुन रहा था कि अनायास मेरे सिर बला मढ़ी जा रही है। झींगुर की कूटनीति भी समझ रहा था। मैं लाख कहूँ मैंने बछिया नहीं बाँधी, मानेगा कौन ? लोग यही कहेंगे कि प्रायश्चित से बचने के लिए ऐसा कह रहा है।

ब्राह्मण देवता का भी उसका प्रायश्चित कराने में कल्याण होता था। भला ऐसे अवसर पर कब चूकने वाले थे। फल यह हुआ कि बुद्धू को हत्या लग गई। ब्राह्मण भी उससे जले हुए थे। कसर निकालने की घात मिली। तीन मास का भिक्षा-दण्ड दिया, फिर सात तीर्थ स्थानों की यात्रा, उस पर ५०० विप्रों का भोजन और ५ गउओं का दान; बुद्धूं ने सुना तो बधिया बैठ गई, रोने लगा, तो दण्ड घटाकर दो मास का कर दिया। इसके सिवा कोई रिआयत न हो सकी। न कहीं

अपील न कहीं फरियाद ! बेचारे को यह दण्ड स्वीकार करना पड़ा।

६

बुद्धू ने भेड़ें ईश्वर को सौंपी। लड़के छोटे थे। स्त्री अकेली क्या-क्या करेगी। जाकर द्वारों पर खड़ा होता और मुँह छिपाए हुए कहता—'गाय की बाछी दियो बनवास।' भिक्षा तो मिल जाती, किन्तु भिक्षा के साथ दो-चार कठोर, अपमान-जनक शब्द सुनने पड़ते। दिन को जो कुछ पाता वही शाम को किसी पेड़ के नीचे बनाकर खा लेता और वहीं पड़ रहता। कष्ट की तो उसे परवा न थी, भेड़ों के साथ दिन-भर चलता ही था, पेड़ के नीचे सोता ही था, भोजन भी इससे कुछ ही अच्छा मिलता था, पर लज्जा थी भिक्षा माँगने की। विशेष करके जब कोई कर्कशा व्यंग्य कर देती थी कि रोटी कमाने का अच्छा ढंग निकाला है, तो उसे हार्दिक वेदना होती थी; पर करे क्या ?

दो महीने बाद वह घर लौटा। बाल बढ़े हुए थे। दुर्बल इतना मानों ६० वर्ष का बूढ़ा हो; तीर्थ-यात्रा के लिए रुपयों का प्रबन्ध करना था। गड़रियों को कौन महाजन कर्ज दे। भेड़ों का भरोसा क्या ? कभी-कभी रोग फैलता है, तो रात-भर में दल का-दल साफ हो जाता है। उस पर जेठ का महीना जब भेड़ों से कोई आमदनी होने की आशा नहीं। एक तेली राजी भी हुआ, तो =) रुपया ब्याज पर। आठ महीने में ब्याज मूल के बराबर हो जायगा। यहाँ कर्ज लेने की हिम्मत न पड़ी। इधर दो महीने में कितनी ही भेड़ें चोरी चली गई थीं। लड़के चराने ले जाते थे। दूसरे गाँव वाले चुपके से एक-दो भेड़ें किसी खेत या घर में छिपा देते; और

पीछे मार कर खा जाते। लड़के वेचारे एक तो पकड़ न सकते और जो देख भी लेते तो लड़ें क्यों कर। सारा गाँव एक हो जाता था। एक महीने में तो भेड़ें आधी भी न रहेंगी। बड़ी विकट समस्या थी। विवश होकर बुद्धू ने एक बूचड़ को बुलाया, और सब भेड़ें उसके हाथ बेच डालीं। ५००) हाथ लगे। उनमें से २००) लेकर वह तीर्थ-यात्रा करने गया। शेष रुपया ब्रह्म-भोज आदि के लिए छोड़ गया।

बुद्धू के जाने पर उसके घर में दो बार सेंध लगी। पर यह कुशल हुई कि जगहर हो जाने के कारण रुपये बच गए।

७

सावन का महीना था। चारों ओर हरियाली छाई हुई थी। झींगुर के बैल न थे। खेत बँटाई पर दे दिए थे। बुद्धू प्रायश्चित से निवृत्त हो गया था, और उसके साथ ही माया के फन्दे से भी। न झींगुर के पास कुछ था, न बुद्धू के पास। कौन किससे जलता और किस लिए जलता?

सन की कल बन्द हो जाने के कारण झींगुर अब बेलदारी का काम करता था। शहर में एक विशाल धर्मशाला बन रही थी। हजारों मजदूर काम करते थे। झींगुर भी उन्हीं में था। सातवें दिन मजदूरी के पैसे लेकर घर आता था और रात भर रह कर सवेरे फिर चला जाता था।

बुद्धू भी मजदूरी की टोह में यहीं पहुँचा। जमादार ने देखा, दुर्बल आदमी है कठिन काम तो इससे न हो सकेगा। कारीगरों को गारा देने के लिए रख लिया। बुद्धू सिर पर तसला रक्खे, गारा लेने गया तो झींगुर को देखा। राम-राम हुई। झींगुर ने गारा भर दिया, बुद्धू उठा लाया। दिन भर दोनों चुपचाप अपना-अपना काम करते रहे।

सन्ध्या समय झींगुर ने पूछा—'कुछ बनाओगे न ?'

बुद्धू—'नहीं तो खाऊँगा क्या ?'

झींगुर—'मैं तो एक जून चबेना कर लेता हूँ। इस जून सत्तू पर काट देता हूँ। कौन झँझट करे।'

बुद्धू—इधर-उधर लकड़ियाँ पड़ी हुई हैं, बटोर लाओ। आटा मैं घर से लाया हूँ। घर ही पर पिसवा लिया था। यहाँ तो बड़ा महँगा मिलता है। इसी पत्थर की चट्टान पर आटा गूँधे लेता हूँ। तुम तो मेरा बनाया खाओगे नहीं, इसलिए तुम्हीं रोटियाँ सेंको मैं बना दूँगा।'

झींगुर—'तवा भी तो नहीं है ?'

बुद्धू—'तवे बहुत हैं। यही गारे का तसला माँजे लेता हूँ।'

आग जली, आटा गूँधा गया। झींगुर ने कच्ची-पक्की रोटियाँ बनाईं। बुद्धू पानी लाया। दोनों ने लाल मिर्च और नमक से रोटियाँ खाईं। फिर चिलम भरी गई। दोनों आदमी पत्थर की सिलों पर लेटे और चिलम पीने लगे।

बुद्धू ने कहा—'तुम्हारी ऊख में आग मैंने लगाई थी।'

झींगुर ने विनोद के भाव से कहा—'जानता हूँ।' थोड़ी देर के बाद झींगुर बोला—'बछिया मैंने ही बाँधी थी और हरिहर ने उसे कुछ खिला दिया था।'

बुद्धू ने भी वैसे ही भाव से कहा—'जानता हूँ।' फिर दोनों सो गए।'

१०

खेल

श्री जैनेन्द्रकुमार

[आपने हिन्दी-साहित्य में मनोवैज्ञानिक कहानियों की सृष्टि की है। आप एक उच्चकोटि के विचारक हैं साथ ही उच्चकोटि के उपन्यासकार भी। आपने छोटी-छोटी कहानियों में भी मनोवैज्ञानिक भावनाओं का पुट दिया है। आपकी कृतियों में भाषा-सौष्ठव पूर्ण रूप से है। आप प्रतिभा-सम्पन्न कहानी-लेखक हैं।

आप के परख, सुनीता, कल्याणी तथा त्याग-पत्र आदि उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। कहानियों के 'वातायान' 'एकरात' संग्रह हैं। प्रस्तुत कथा में बालकों की शैशव-कालीन क्रीड़ा का एक सुन्दर चित्र है। निष्पाप वातावरण, निश्छल प्रेम किस प्रकार हृदयग्राही होता है इसकी झाँकी इस कथा में आपको उपलब्ध होगी। विश्व की निस्सारता का चित्र भी इस में प्रच्छन्न रूप से है। मनोहर और सुरबाला की सुखद कुटिया कभी निर्मित हो सकी होगी? यह पाठकों के हृदय की अनुभूति के लिये बड़ी सावधानी से छोड़ दिया है।]

मौन मुग्ध सन्ध्या स्मित प्रकाश से हँस रही थी। उस समय गंगा के निर्जन बालुका-तीर पर एक बालक और एक बालिका अपने को और सारे विश्व को भूल, गंगातट के बालू और पानी को अपना एक-मात्र आत्मीय बना, उनसे खिलवाड़ कर रहे थे।

प्रकृति इन निर्दोष परमात्म-खण्डों को निस्तब्ध और निर्निमेष निहार रही थी। बालक कहीं से एक लकड़ी लाकर तट के जल को छटा-छट उछाल रहा था। पानी मानो चोट खाकर भी बालक से मित्रता जोड़ने के लिए विह्वल हो उछल रहा था। बालिका अपने एक पैर पर रेत जमाकर और थोप-थोप कर एक भाड़ बना रही थी।

बनाते-बनाते भाड़ से बालिका बोली—देख, ठीक नहीं बना तो मैं तुझे फोड़ दूँगी। फिर बड़े प्यार से थपका-थपकाकर उसे ठीक करने लगी। सोचती जाती थी, इसके ऊपर मैं एक कुटी बनाऊँगी—वह मेरी कुटी होगी। और मनोहर ?....नहीं, वह कुटी में नहीं रहेगा, बाहर खड़ा-खड़ा भाड़ में पत्ते झोंकेगा। जब वह हार जायगा, बहुत कहेगा, हाथ जोड़ेगा, तब मैं उसे अपनी कुटी के भीतर लूँगी।

मनोहर उधर अपने पानी से हिलमिलकर खेल रहा था। उसे क्या मालूम कि यहाँ अकारण ही उस पर रोष और अनुग्रह किया जा रहा है।

बालिका सोच रही थी, मनोहर कैसा अच्छा है। पर वह दंगाई बड़ा है। हमें छेड़ता ही रहता है। अब के दंगा करेगा, तो हम उसे कुटी में साझी नहीं करेंगे। साझी होने को कहेगा तो उससे शर्त करवा लेंगे, तब साझी करेंगे।

बालिका सुरबाला सातवें वर्ष में थी। मनोहर कोई दो साल उससे बड़ा था।

बालिका को अचानक ध्यान आया, भाड़ की छत तो गरम होगी। उस पर मनोहर रहेगा कैसे ? मेरी क्या, मैं तो रह जाऊँगी; पर मनोहर तो जलेगा। फिर सोचा, उससे मैं कह दूँगी, भाई, छत बहुत तप रही है, तुम जलोगे, तुम मत

आओ। पर वह अगर नहीं माना? मेरे पास वह बैठने को आया ही—तो? मैं कहूँगी, भाई, ठहरो, मैं ही बाहर आती हूँ। पर वह मेरे पास आने को जिद करेगा क्या? जरूर करेगा, वह बड़ा हठी है! पर मैं उसे आने नहीं दूँगी। बेचारा तपेगा—भला कुछ ठीक है! ज्यादा कहेगा मैं धक्का दे दूँगी, कहूँगी—अरे जल जायगा मूरख! यह सोचने पर उसे बड़ा मजा-सा आया; पर उसका मुँह सूख गया। उसे मानों सचमुच ही धक्का खाकर मनोहर के गिरने का हास्योत्पादक और करुण दृश्य सत्य की भाँति प्रत्यक्ष हो गया।

बालिका ने दो-एक पक्के हाथ भाड़ पर लगाकर देखा—भाड़ अब बिलकुल बन गया है। माँ जिस सतर्क सावधानी के साथ अपने नवजात शिशु को बिछौने पर लेटाने को छोड़ती है, वैसे ही सुरबाला ने अपना पैर धीरे-धीरे भाड़ के नीचे से खींच कर निकाला। इस क्रिया में वह सचमुच भाड़ को पुचकारती-सी जाती थी। उसके पैर पर ही तो भाड़ टिका है। पैर का आश्रय हट जाने पर बेचारा कहीं टूट न पड़े! पैर साफ निकालने पर भाड़ जब ज्यों-का-त्यों टिका रहा, तब बालिका एक बार आह्लाद से नाच उठी।

बालिका अब एकदम ही बेवकूफ मनोहर को इस अलौकिक चातुर्य से परिपूर्ण भाड़ के दर्शन के लिए दौड़कर खींच लाने को उद्यत हो गई। मूर्ख लड़का पानी से उलझ रहा है; यहाँ कैसी जबरदस्त कारगुजारी हुई है—सो नहीं देखता! ऐसा पक्का भाड़ उसने कहीं देखा भी है!

पर सोचा, अभी नहीं; पहले कुटी तो बना लूँ। यह सोच बालिका ने रेत की एक चुटकी ली और बड़े धीरे से भाड़

के सिर पर छोड़ दी। फिर दूसरी, फिर तीसरी, फिर चौथी। इस प्रकार चार चुटकी रेत धीरे-धीरे वहाँ छोड़ कर सुरबाला ने भाड़ के सिर पर अपनी कुटी तैयार कर ली।

भाड़ तैयार हो गया। पर पड़ोस का भाड़ जब बालिका ने पूरा-पूरा याद किया, तो पता चला कि एक कमी रह गई धुआँ कहाँ से निकलेगा। तनिक सोच कर उसने एक सींक टेढ़ी करके उसमें गाड़ दी। बस, ब्रह्माण्ड का सबसे सम्पूर्ण भाड़ और विश्व की सबसे सुन्दर वस्तु तैयार हो गई।

वह उजड्ड मनोहर को इस अपूर्व कारीगरी का दर्शन करावेगी। पर अभी जरा थोड़ा देख तो ले। सुरबाला, मुँह खुला, आँख स्थिर इस भाड़-श्रेष्ठ को देख-देख कर विस्मित और पुलकित होने लगी। परमात्मा कहाँ विराजते हैं, कोई इस बाला से पूछे, तो वह बताये, इस भाड़ के जादू में।

मनोहर अपनी सुरो-सुरो-सुर्री की याद कर पानी से नाता तोड़ और हाथ की लकड़ी भरपूर जोर से गङ्गा की धारा में फेंक जब मुड़ा तब श्री सुरबाला देवी एकटक अपनी परमात्म-लीला के जादू को बूझने और सुलझाने में लगी हुई थीं।

मनोहर ने बाला की दृष्टि का अनुसरण कर देखा—श्रीमती बिल्कुल अपने भाड़ में अटक हुई हैं। उसने जोर से क़हक़हा लगाकर एक लात में भाड़ का काम तमाम कर दिया!

न जाने क्या क़िला फ़तह किया हो, ऐसे महत्त्व से भरा मनोहर चिल्लाया—सुर्रो रानी!

सुर्रो रानी मूक खड़ी थीं। उनके मुँह पर जहाँ विशुद्ध रस था, वहाँ एक शून्य फैल गया। रानी के सामने एक स्वर्ग सांगोपांग उपस्थित था। वह उन्हीं का अपना रचा हुआ था

और वह एक व्यक्ति को अपने साथ लेकर स्वर्ग की एक-एक मनोरमता और स्वर्गीयता दिखलाना चाहती थी। हा; हन्त ! वही व्यक्ति आया और उसने अपनी लात से उसे तोड़-फोड़ डाला ! रानी हमारी बड़ी व्यथा से भर गई।

हमारे विद्वान् पाठकों में से कोई होता, तो उस झूठमूठ की मूर्ख रानी को समझाता—यह संसार क्षणभंगुर है। इसमें दुःख क्या और सुख क्या। जो जिससे बनता है, वह उसी में लय हो जाता है। इसमें शोक और उद्वेग की क्या बात है ? यह संसार जल का बुदबुदा है, फूटकर किसी रोज जल में ही मिल जायगा। फूट जाने में ही बुदबुदे की सार्थकता है। जो यह नहीं समझते, वे दया के पात्र हैं। री, मूर्खा लड़की, तू समझ। सब ब्रह्मांड ब्रह्म का है, और उसी में लीन हो जायगा। इससे तू किस लिए व्यर्थ व्यथा सह रही है ? रेत का तेरा भाड़ क्षणिक था, क्षण में लुप्त हो गया, रेत में मिल गया। इस पर खेद मत कर, इससे शिक्षा ले। जिसने लात मार कर उसे तोड़ा है, वह तो परमात्मा का केवल साधन-मात्र है। लड़की तू मूर्ख क्यों बनती है ? परमात्मा की इस शिक्षा को समझ और परमात्मा तक पहुँचने का प्रयास कर........आदि आदि।

पर बेचारी बालिका का दुर्भाग्य, कोई विज्ञ श्रीमान पंडित तत्त्वोपदेश के लिए उस गंगा-तट पर नहीं पहुँच सके। हमें तो यह भी सन्देह है कि सुर्री एकदम इतनी जड़ मूर्खा है कि यदि कोई परोपकार-रत पण्डित परमात्म-निर्देश से वहाँ पहुँच कर उपदेश देने भी लगते; तो वह उनकी बात को न सुनती और न समझती। पर अब तो वहाँ निर्बुद्ध-शठ मनोहर के सिवा कोई नहीं है, और मनोहर विश्व तत्त्व की एक भी बात नहीं

जानता। उसका मन न जाने कैसा हो रहा है। कोई उसे जैसे भीतर ही भीतर मसोसे डाल रहा है। लेकिन उसने बनकर कहा—'सूरों दुत् पगली, रूठती है।'

सुरबाला वैसे ही खड़ी रही।

'सुरी, रूठती क्यों है?'

बाला तनिक न हिली।

'सुरी! सुरी!'''ओ, सुरो!'

अब बनना न हो सका। मनोहर की आवाज हठात् कँपी-सी निकली।

सुरबाला अब और मुँह फेर कर खड़ी हो गई। स्वर के इस कंपन का सामना शायद उससे न हो सका।

सुरी''''ओ सुरिया। मैं मनोहर हूँ''''मनोहर!''''मुझे मारती, नहीं!"—यह मनोहर ने उसके पीठ पीछे से कहा और ऐसे कहा, जैसे वह यह प्रकट करना चाहता है कि वह रो नहीं रहा है।

'हम नहीं बोलते।' बालिका से बिना बोले न रहा गया। उसका भाड़ का स्वर्ग शायद विलीन हो गया और उसका स्थान और बाला की सारी दुनिया का स्थान काँपती हुई मनोहर की आवाज ने ले लिया। वही आवाज मानो सब कहीं व्यापकर चित्र-सी लिख गई।

मनोहर ने बड़ा बल लगाकर कहा—सुरी, मनोहर तेरे पीछे खड़ा है। वह बड़ा खराब है। बोल मत, पर उस पर रेत क्यों नहीं फेंक देती। मार क्यों नहीं देती! उसे एक थप्पड़ लगा—वह अब कभी कसूर नहीं करेगा।

बाला ने कड़ककर कहा—चुप रहो जी!

'चुप रहता हूँ; पर मुझे देखोगी भी नहीं?'

'नहीं देखते।'

'अच्छा मत देखो। मत ही देखो। मैं अब कभी मिलने न आऊँगा मैं इसी लायक हूँ।

'कह दिया तुमसे, चुप रहो। हम नहीं बोलते।'

बालिका में व्यथा और क्रोध कभी का खत्म हो चुका था। वह तो जाने कहाँ उड़कर खो चुका था। यह कुछ और ही भाव था। यह एक उल्लास था जो व्याज-कोप का रूप धर रहा था, दूसरे शब्दों में स्त्रीत्व था।

मनोहर बोला—लो सुरी, मैं नहीं बोलता, मैं बैठ जाता हूँ। यहीं बैठा रहूँगा। तुम जब तक न कहोगी, न उठूँगा न बोलूँगा।

मनोहर चुप बैठ गया। कुछ क्षण बाद हारकर सुरबाला बोली—'हमारा भाड़ क्यों तोड़ा जी? हमारा भाड़ बनाके दो।'

'लो, अभी लो।'

'हम वैसा ही लेंगे।'

'वैसा ही लो, उससे भी अच्छा।'

'उस पै हमारी कुटी थी, उस पै धुएँ का रास्ता था।'

'लो, सब लो। तुम बताती जाओ, मैं बनाता जाऊँ।'

'हम नहीं बतायेंगे। तुमने क्यों तोड़ा? तुमने तोड़ा तुम्हीं बनाओ।

'अच्छा। पर तुम इधर देखो तो।'

'हम नहीं देखते, पहले भाड़ बनाके दो।'

'मनोहर ने एक भाड़ बना कर तैयार किया। कहा—'लो भाड़ बन गया?

'बन गया?'

'हाँ।'

'धुएँ का रास्ता बनाया ? कुटी बनाई ?'

'सो कैसे बनाएँ—बताओ तो।'

'पहले बनाओ, तब बताऊँगी।'

भाड़ के सिर पर एक सींक लगाकर और एक पत्ते की ओट लगाकर कहा—'बना दिया।'

तुरन्त मुड़कर सुरबाला ने कहा—'अच्छा दिखाओ।'

'सींक ठीक नहीं लगी जो, पत्ता ऐसे लगेगा ?'—आदि-आदि संशोधन कर चुकने पर मनोहर को हुक्म हुआ—

'थोड़ा पानी लाओ, भाड़ के सिर पर डालेंगे !!'

मनोहर पानी लाया।

गंगाजल से करपात्रों द्वारा वह भाड़ का अभिषेक करना ही चाहता था कि सुरों रानी ने एक लात से भाड़ के सिर को चकनाचूर कर दिया।

सुरबाला रानी हँसी से नाच उठी ! मनोहर उत्फुल्लता से कहकहा लगाने लगा। उस निर्जन प्रान्त में वह निर्बल शिशु-हास्य-रव लहरें लेता हुआ व्याप्त हो गया। सूरज महाराज बालकों जैसे लाल-लाल मुँह से गुलाबी हँसी हँस रहे थें। गंगा मानों जान-बूझकर किलकारियाँ भर रही थी। और—और वे लम्बे-ऊँचे दिग्गज पेड़ दार्शनिक पण्डितों की भाँति, सब हास्य की सार-शून्यता पर मन-ही-मन गम्भीर तत्त्वावलोकन कर, कहीं हँसी में भोले मूर्खों पर आँसू बहाना तो नहीं चाह रहे थे—वे बेचारे !

११

प्रायश्चित

श्री भगवतीचरण वर्मा

[आपने हिन्दी में उपन्यास, काव्य, तथा कहानियों की रचना की है। आपकी कहानियाँ मौलिक और शिक्षाप्रद होती हैं। आपके अन्दर चरित्र-चित्रण की अद्भुत क्षमता है। सजीवता आपकी कहानियों का गुण है। पात्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आपने अत्युत्तम किया है। छोटी-सी घटना को भी आप इतना मनोरंजक तथा आकर्षक चित्रित करते हैं कि पाठक कहानी के चरित्रों में ही उलझकर मोहित-सा हो जाता है। प्रस्तुत कहानी में अन्धविश्वास का आपने शिष्ट परिहास उड़ाया है और आधुनिक अपढ़ पण्डितों और ज्योतिषियों को अच्छा चरका दिलाया है। पण्डितजी का बड़े परिश्रम से तय्यार किया हुआ महल, बिल्ली के भाग जाने पर ही लड़खड़ा कर गिर पड़ा।]

अगर कबरी बिल्ली घर भर में किसी से प्रेम करती थी तो रामू की बहू से, और रामू की बहू घर भर में किसी से घृणा करती थी तो कबरी बिल्ली से। रामू की बहू को दो महीना हुआ मायके से प्रथम बार सुसराल आई थी। पति की प्यारी और सास की दुलारी, चौदह वर्ष की बालिका। भंडार घर की चाभी उसकी करधनी से लटकने लगी, नौकरों पर उसका हुकुम चलने लगा; और रामू की बहू घर

में सब कुछ; सासजी ने माला लिया और पूजा-पाठ में मन लगाया।

लेकिन ठहरी चौदह वर्ष की बालिका, कभी भण्डार-घर खुला है; तो कभी भण्डार घर में, बैठे-बैठे सो गई। कबरी बिल्ली को मौका मिला, घी-दूध पर अब वह जुट गई। रामू की बहू की जान आफत में और कबरी बिल्ली के छक्के-पंजे। राम की बहू हाँड़ी में रखते-रखते ऊँघ गई और बचा हुआ घी कबरी के पेट में। रामू की बहू दूध ढक कर मिसरानी को जिन्स देने गई और दूध नदारद। अगर यह बात यहीं तक रह जाती तो भी बुरा न था, कबरी रामू की बहू से कुछ ऐसा परच गई कि रामू की बहू के लिए खाना-पीना दुश्वार। रामू की बहू के कमरे में रबड़ी से भरी हुई कटोरी पहुँची और रामू जब आये तब कटोरी साफ चटी हुई। बाजार से मलाई आई और जब तक रामू की बहू ने पान लगाया, मलाई गायब। रामू की बहू ने तै कर लिया कि या तो वही घर में रहेगी या कबरी बिल्ली ही। मोरचा-बन्दी होगई और दोनों सतर्क। बिल्ली फँसाने का कटघरा आया, उसमें दूध, मलाई, चूहे और भी बिल्ली को स्वादिष्ट लगने वाले विविध प्रकार के व्यंजन रखे गये, लेकिन बिल्ली ने उधर निगाह तक न डाली। इधर कबरी ने सरगर्मी दिखलाई। अभी तक तो वह रामू की बहू से डरती थी, पर अब वह साथ लग गई लेकिन इतने फासले पर कि रामू की बहू उस पर हाथ न लगा सके।

कबरी के हौसले बढ़ जाने से रामू की बहू को घर में रहना मुश्किल हो गया। उसे मिलती थीं सास की मीठी झिड़कियाँ और पति देव को रूखा-सूखा भोजन।

एक दिन रामू की बहू ने रामू के लिये खीर बनाई पिश्ते, बादाम, मखाने और तरह-तरह के मेवे दूध में औटाये गये, सोने का वर्क चिपकाया गया और खीर में भर कर कटोरा कमरे के एक ऐसे ऊँचे ताक पर रखा गया, जहाँ बिल्ली न पहुँच सके, रामू की वहू इसके बाद पान लगाने में लग गई।

उधर कमरे में बिल्ली आई; ताक के नीचे खड़े होकर उसने ऊपर कटोरे की ओर देखा, सूँघा—माल अच्छा है, ताक की ऊँचाई अन्दाजी और रामू की वहू पान लगा रही है। पान लगा कर रामू की बहू सासजी को पान देने को चली गई और कबरी ने छलाँग मारी, पंजा कटोरे में लगा और झनझनाहट की आवाज के साथ फर्श पर।

आवाज रामू की बहू के कान में पहुँची, सास के सामने पान फेंक कर वह दौड़ी, क्या देखती है कि फूल का कटोरा टुकड़े-टुकड़े और खीर फर्श पर और बिल्ली डटकर खीर उड़ा रही है। रामू की बहू को देखते ही कबरी चम्पत।

रामू की बहू पर खून सवार हो गया न रहे बाँस न बजै बाँसुरी। रामू की बहू ने कबरी की हत्या पर कमर कस ली। रात-भर उसे नींद न आई, किस दाँव से कबरी पर वार किया जाय कि फिर जिन्दा न बचे, यही पड़े-पड़े सोचती रही। सुबह हुई वह देखती है कि कबरी देहरी पर बैठी बड़े प्रेम से उसे देख रही है।

रामू की बहू ने कुछ सोचा, इसके बाद मुसकराती हुई वह उठी। कबरी रामू की बहू के उठते ही खिसक गई। रामू की बहू एक कटोरा दूध कमरे के दरवाजे की देहरी पर रख कर चली गई। हाथ में पाटा लेकर लौटी तो देखती है कि कबरी

दूध पर जुटी है। मौका हाथ में आ गया। सारा बल लगा कर पाटा उसने बिल्ली पर पटक दिया। कबरी न हिली न डुली, न चीखी न चिल्लाई, बस एक दम उलट गई।

आवाज जो हुई तो महरी झाड़ू छोड़कर, मिसरानी रसोई छोड़कर और सास पूजा छोड़कर घटनास्थल पर उपस्थित हो गईं। रामू की बहू सर झुकाये हुए अपराधिनी की भाँति बातें सुन रही है।

महरी बोली—अरे राम, बिल्ली तो मर गई। माजी बिल्ली की हत्या बहू से हो गई, यह तो बुरा हुआ।

मिसरानी बोली—माजी, बिल्ली की हत्या और आदमी की हत्या बराबर है। हम तो रसोई न बनावेंगी, जब तक बहू के सिर हत्या रहेगी।

सासजी बोली—हाँ, ठीक कहती हो, जब तक बहू के सिर से हत्या न उतर जाय, तब तक न कोई पानी पी सकता है, न खाना खा सकता है। बहू यह क्या कर डाला!

महरी ने कहा—फिर क्या हो, कहो तो पण्डितजी को बुला लाऊँ।

सास की जान में जान आई—अरे हाँ, जल्दी दौड़ के पंडितजी को बुला ला।

बिल्ली की हत्या की खबर बिजली की तरह पड़ौस में फैल गई। पड़ौस की औरतों का रामू के घर में ताँता बँध गया। चारों तरफ से प्रश्नों की बौछार और रामू की बहू सिर झुकाये बैठी थी।

पण्डित परमसुख को जब यह खबर मिली उस समय वे पूजा कर रहे थे। खबर पाते ही वे उठ पड़े—पण्डिताइन से मुसकराते हुए बोले—भोजन न बनाना। लाला घासीराम की

पतोहू ने बिल्ली मार डाली; प्रायश्चित होगा, पकवानों पर हाथ लगेगा।

पण्डित परमसुख चौबे छोटे-से मोटे-से आदमी थे। लम्बाई चार फीट दस इंच और तोंद का घेरा अट्ठावन इञ्च। चेहरा गोल-मटोल, मूँछ बड़ी-बड़ी, रंग गोरा, चोटी कमर तक पहुँचती हुई।

कहा जाता है कि मथुरा में जब पसेरी खुराक वाले पण्डितों को ढूँढ़ा जाता था तो पण्डित परमसुखजी को इस लिस्ट में प्रथम स्थान दिया जाता था।

पण्डित परमसुख पहुँचे, और कोरम पूरा हुआ। पंचायत बैठी—सासजी, मिसरानी, किसनू की माँ, छन्नू की दादी और पण्डित परमसुख! बाकी स्त्रियाँ बहू से सहानुभूति प्रकट कर रही थीं।

किसनू की माँ ने कहा—पण्डित जी, बिल्ली की हत्या करने से कौन नरक मिलता है?

पण्डित परमसुख ने पत्रा देखते हुए कहा—बिल्ली की हत्या अकेले से तो नरक का नाम नहीं बतलाया जा सकता, वह महूरत भी जब मालूम हो जाय जब बिल्ली की हत्या हुई, नरक का पता लग सकता है।

'यह कोई सात बजे सुबह।'—मिसरानी जी ने कहा।

पण्डित परमसुख ने पन्ने के पन्ने उलटे, अक्षरों पर उँगलियाँ चलाईं, मत्थे पर हाथ लगाया और कुछ सोचा। चेहरे पर धुँधलापन आया। माथे पर बल पड़े, नाक कुछ सिकुड़ी और स्वर गम्भीर हो गया, हरे कृष्ण! हरे कृष्ण! बड़ा बुरा हुआ, प्रातःकाल ब्राह्म-मुहूर्त्त में बिल्ली की हत्या! घोर कुम्भीपाक नरक का विधान! रामू की माँ, यह तो बड़ा बुरा हुआ।

रामू की माँ की आँखों में आँसू आ गये—तो फिर पण्डित जी, अब क्या होगा, आप ही बतलायें ?

पण्डित परमसुख मुस्कराये—रामू की माँ, चिन्ता की कौन-सी बात है, हम पुरोहित फिर कौन दिन के लिए हैं ? शास्त्रों में प्रायश्चित का विधान है, सो प्रायश्चित से सब कुछ ठीक हो जायगा।

रामू की माँ ने कहा—पण्डितजी, इसी लिए तो आपको बुलवाया था, अब आगे बतलाओ कि क्या किया जाय।

'किया क्या जाय—यही एक सोने की बिल्ली बनवाकर बहू से दान करवा दी जाय—जब तक बिल्ली न दे दी जायगी तब तक तो घर अपवित्र रहेगा, बिल्ली दान देने के बाद इक्कीस दिन का पाठ हो जाय।

छन्नू की दादी—हाँ, और क्या, पण्डितजी ठीक तो कहते हैं, बिल्ली अभी दान दे दी जाय और पाठ फिर हो जाय।

रामू की माँ ने कहा—तो पण्डितजी कितने तोले की बिल्ली बनवाई जाय ?

पण्डित परमसुख मुस्कराये, अपनी तोंद पर हाथ फेरते हुए उन्होंने कहा—बिल्ली कितने तोले की बनवाई जाय? अरे रामू की माँ, शास्त्रों में तो लिखा है कि बिल्ली के वजन भर सोने की बिल्ली बनवाई जाय लेकिन अब कलियुग आ गया है, धर्म-कर्म का नाश हो गया है, श्रद्धा नहीं रही। सो रामू की माँ बिल्ली के तौल भर की बिल्ली तो क्या बनेगी, क्योंकि बिल्ली बीस-इक्कीस सेर से कम की क्या होगी; हाँ, कम से कम इक्कीस तोले की बिल्ली बनवा के दान करवा दो, और आगे तो अपनी-अपनी श्रद्धा !

रामू की माँ ने आँखें फाड़कर पण्डित परमसुख को

देखा—अरे बाप रे ! इक्कीस तोला सोना ! पण्डितजी, यह तो बहुत है, तोला भर की बिल्ली से काम न निकलेगा ?

पण्डित परमसुख हँस पड़े—रामू की माँ ! एक तोला सोने की बिल्ली ! अरे रुपये का लोभ बहू से बढ़ गया ? बहू के सिर बड़ा पाप है—इसमें इतना लोभ ठीक नहीं।

मोल-तोल शुरू हुआ और मामला ग्यारह तोले की बिल्ली पर ठीक हो गया।

इसके बाद पूजा-पाठ की बात आई। पण्डित परमसुख ने कहा—उसमें क्या मुश्किल है, हम लोग किस दिन के लिए हैं। रामू की माँ, मैं पाठ कर दिया करूँगा, पूजा की सामग्री आप हमारे घर भिजवा देना।

'पूजा का सामान कितना लगेगा ?'

'अरे कम से कम सामान में हम पूजा कर देंगे, दान के लिए करीब दस मन गेहूँ, एक मन चावल, एक मन दाल, मन-भर तिल, पाँच मन जौ, और पाँच मन चना, चार पसेरी घी, और मन भर नमक भी लगेगा। बस इतने में काम चल जायगा।'

'अरे बाप रे ! इतना सामान, पण्डितजी, इसमें तो सौ-डेढ़ सौ रुपया खर्च हो जायगा।'—रामू की माँ ने रुआसी होकर कहा।

'फिर इससे कम में तो काम न चलेगा। बिल्ली की हत्या कितना बड़ा पाप है, रामू की माँ ! खर्च को देखते वक्त पहिले बहू के पाप को तो देखलो ! यह तो प्रायश्चित है कोई हँसी-खेल थोड़े ही है—और जैसी जिसकी मरजादा; प्रायश्चित में उसे वैसा ही खर्च करना पड़ता है। आप लोग कोई ऐसे-वैसे

थोड़े हैं। अरे सौ-डेढ़-सौ रुपया आप लोगों के हाथ का मैल है।

पण्डित परमसुख की बात से पंच प्रभावित हुए; किसनू की माँ ने कहा—पण्डितजी ठीक कहते हैं, बिल्ली की हत्या कोई ऐसा-वैसा पाप तो है नहीं—बड़े पाप के लिये बड़ा खर्च भी चाहिए।

छन्नू की दादी ने कहा—और नहीं तो क्या, दान-पुन्न से ही पाप कटते हैं। दान-पुन्न में किफायत ठीक नहीं।

मिसरानी ने कहा—और फिर माजी, आप लोग बड़े आदमी ठहरे। इतना खर्च कौन आप लोगों को अखरेगा।

रामू की माँ ने अपने चारों ओर देखा—सभी पंच पण्डित जी के साथ। पण्डित परमसुख मुस्करा रहे थे। उन्होंने कहा—रामू की माँ, एक तरफ तो बहू के लिये कुम्भीपाक नरक है और दूसरी तरफ तुम्हारे जिम्मे थोड़ा-सा खर्च है। सो इससे मुँह न मोड़ो।

एक ठण्डी साँस लेते हुए रामू की माँ ने कहा—अब तो जो नाच नचाओगे, नाचना ही पड़ेगा।

पण्डित परमसुख जरा कुछ बिगड़ कर बोले—रामू की माँ! यह तो खुशी की बात है, अगर तुम्हें अखरता है तो न करो—मैं चला। इतना कह कर पण्डितजी ने पोथी-पत्रा बटोरा।

'अरे पण्डितजी, रामू की माँ को कुछ नहीं अखरता—बेचारी को कितना दुःख है—बिगड़ो न।'—मिसरानी, छन्नू की दादी और किसनू की माँ ने एक स्वर से कहा।

रामू की माँ ने पण्डितजी के पैर पकड़े—और पण्डितजी ने अब जमकर आसन जमाया।

'इक्कीस दिन के पाठ के इक्कीस रुपये और इक्कीस दिन तक दोनों बखत पाँच-पाँच ब्राह्मणों को भोजन करवाना पड़ेगा।' कुछ रुककर पण्डित परमसुख ने कहा—सो इसकी चिन्ता न करो, मैं अकेले दोनों समय भोजन कर लूँगा और मेरे अकेले भोजन करने से पाँच ब्राह्मण के भोजन का फल मिल जायगा।

'यह तो पण्डितजी ठीक कहते हैं, पण्डितजी की तोंद तो देखो—' मिसरानी ने मुस्कराते हुए पण्डितजी पर व्यंग किया।

'अच्छा तो फिर प्रायश्चित का प्रबन्ध करवाओ। रामू की माँ, ग्यारह तोला सोना निकालो। मैं उसकी बिल्ली बनवा लाऊँ—दो घण्टे में मैं बनवाकर लौटूँगा तब तक सब पूजा का प्रबन्ध कर रखो—और देखो, पूजा के लिए........'

पण्डितजी की बात ख़तम भी न हुई थी कि महरी हाँफती हुई कमरे में घुस आई और सब लोग चौंक उठे। रामू की माँ ने घबड़ा कर कहा—क्या हुआ री।

महरी ने लड़खड़ाते स्वर में कहा—'माजी, बिल्ली तो उठकर भाग गई।'

—

१२

ग्रामीणा

श्री सुभद्राकुमारी चौहान

[आपने अपनी कहानियों में समाज के सजीव और धार्मिक चित्र अङ्कित किये हैं। भावनाओं और मनोविज्ञान के सत्यों का अन्वेषण आपकी कृतियों में नहीं है, परन्तु हृदय की सरलता, भोलापन तथा हिन्दू-समाज के रहन-सहन का प्रत्यक्ष प्रदर्शन आपकी कहानियों में उपलब्ध होता है। "बिखरे मोती" नामक कहानी-संग्रह में आपने नारी-जीवन के विविध रूप कहानियों द्वारा व्यक्त किये हैं। प्रस्तुत कहानी में एक ग्रामीण स्त्री का नागरिक जीवन से सम्बन्ध प्रदर्शित किया है पर नागरिक जन ग्रामीण स्त्रियों की सरलता कैसे अनुभव कर सकते हैं। इस विषम-वेदना का शिकार अभागिनी सोना को भी होना पड़ा। कहानी जीवन का सरल सत्य है।]

पंडित रामधन तिवारी को परमात्मा ने सब कुछ दिया था, किन्तु सन्तान के बिना घर सूना था। धन-धान्य से भरा-पूरा घर उन्हें जंगल की तरह जान पड़ता। संतान की लालसा से उन्होंने न जाने कितने जप-तप और विधान करवाए; और अन्त में उनकी ढलती उम्र में पुत्र तो नहीं, पर एक पुत्री का जन्म हुआ। इस समय तिवारी जी ने खूब खुले हाथों खर्च किया। सारे गाँव को प्रीति-भोज दिया। महीनों घर में ढोलक ठनकती रही। कन्या ही सही, पर इसके जन्म ने तिवारी जी

के निष्पुत्र होने के कलंक को धो दिया था। कन्या का रङ्ग गोरा-चिट्टा, आँखें बड़ी-बड़ी, चौड़ा माथा और सुन्दर-सी नासिका थी। उसके बाल घने, काले और असंख्य नन्हें-नन्हें छल्लों की भाँति सिर पर बड़े ही सुहावने लगते थे। उसका नाम रखा गया—'सोना'। सोना का लालन-पालन बड़े लाड़-प्यार से होने लगा।

जब सोना सात साल की हुई तो घर ही में एक मास्टर लगाकर तिवारी जी ने सोना को हिन्दी पढ़वाना प्रारम्भ किया; और थोड़े ही समय में सोना ने रामायण, महाभारत इत्यादि धार्मिक पुस्तकें पढ़ना सीख लिया। गाँव के सभी लोगों ने सोना की कुशाग्र बुद्धि की तारीफ की। इसके आगे, अधिक पढ़ाकर तिवारी जी को कन्या से कुछ नौकरी तो करवानी न थी; इसलिए सोना का पढ़ना बन्द करवा दिया गया।

अब सोना नौ साल की सुकुमार सुन्दर बालिका थी। उसकी सुन्दरता और सुकुमारता को देखकर गाँव वाले कहते—"तिवारी जी ! तुम्हारी लड़की देहात के लायक नहीं है। इसका विवाह तो भाई कहीं शहर में ही करना। सुनते हैं, शहर में बड़ा आराम रहता है।"

इधर तिवारी जी की बहिन जानकी, जिसका विवाह हुआ तो गाँव में ही था; किन्तु कुछ दिन से शहर में जाकर रहने लगी थी, जब कभी शहर से चौड़े किनारे की सफेद साड़ी, आधी बाँह का लेस लगा हुआ जाकेट, टिकली की जगह माथे पर लाल ईंगुर की बिन्दी और पैर में काले स्लीपर पहिन कर आती तो सारे गाँव की स्त्रियाँ उसे देखने के लिए दौड़ आतीं। गाँव के तरुण-जीवन में उसका आदर था और बूढ़ों की आँखों में वह खटकती थी; किन्तु फिर भी वह सबके लिए एक नई

चीज थी। जानकी के पति नारायण ने भी मिल में नौकरी कर ली थी। उसे २०) महावार मिलते थे। वह अब देहाती न था, सोलह आने शहर का बाबू बन गया था। धोती की जगह ढीला पाजामा, कुरते की जगह कमीज, वास्कट और कोट पहिनता; पगड़ी की जगह टोपी और पैरों में पम्प शू पहिनता था। जब कभी गाँव में जाता कान में इत्र का फाहा जरूर रहता; कभी हिना, कभी खश की मस्त खुशबू से बेचारे देहाती हैरान हो जाते। उन्हें अपने जीवन से शहर का जीवन बड़ा ही सुखमय और शान्तिदायक मालूम होता।

इन सब बातों को देखकर और सोना की सुकुमारता को देखते हुए सोना की माँ नन्दो ने निश्चय कर लिया था कि मैं अपनी सोना का विवाह शहर में ही करूँगी। मेरी सोना भी पैरों में पतले-पतले लच्छे और काले-काले स्लीपर पहनेगी। चौड़े किनारे की सफेद साड़ी और लेस लगा हुआ जाकेट पहिन कर वह कितनी सुन्दर लगेगी; उसकी कल्पना मात्र से ही नन्दो हर्ष से विह्वल हो जाती। किन्तु सोना को कुछ ज्ञान न था, वह तो अपने देहाती जीवन में ही मस्त थी। वह दिन भर मधुबाला की तरह स्वच्छन्द फिरा करती। कभी-कभी समय पर खाना खाने आ जाती और कभी-कभी तो खेल में खाना भी भूल जाती। सुन्दर चीजें इकट्ठी करने और उन्हें देखने का उसे व्यसन-सा था। गाँव में अपने जोड़ की कोई लड़की उसे न मिलती; इसलिए किसी लड़की से उसका अधिक मेल-जोल न था। नन्दो को सोना की यह स्वच्छन्द-प्रियता पसन्द न थी। किन्तु वह सोना को दबा भी न सकती थी। वह जब कभी सोना को इसके लिए कुछ कहती तो तिवारी जी उसे आड़े हाथों लेते, कहते—"लड़की

है, पराये घर तो उसे जाना ही पड़ेगा, क्यों उसके पीछे पड़ी रहती हो ? जितने दिन हैं, खेल-खा लेने दो। कुछ तुम्हारे घर जन्म-भर थोड़े बनी रहेगी।"

धीरे-धीरे सोना ने बारह वर्ष पूरे करके तेरहवें में पैर रखा किन्तु तिवारी जी का इस तरफ ध्यान ही न था। एक दिन नन्दो ने उन्हें छेड़ा—"सोना के विवाह की भी कुछ फिकर है ?"

तिवारी जी चौंक से उठे, बोले—"सोना का विवाह ? अभी वह है कै साल की ?"

किन्तु यह कितने दिनों चल सकता। लड़की का विवाह तो करना ही पड़ता। वैसे तो गाँव में ही कई ऐसे लड़के थे जिनसे सोना का विवाह हो सकता था। किन्तु नन्दो और तिवारी जी दोनों ही सोना का विवाह शहर में करना चाहते थे। शहर के जीवन का सुनहला सपना रह-रह के उनकी आँखों में छा जाता था। उन्होंने जानकी और नारायण से शहर में कोई योग्य वर तलाश करने के लिए कहा।

इधर सोना बारह साल की हो जाने पर भी निरी बालिका ही थी। अब भी वही राजा-रानी का खेल खेला जाता। सुन्दर फूल-पत्तियाँ अब भी इकट्ठी की जातीं और तितलियों के पीछे अब भी उसी प्रकार दौड़ लगती। सोना के अंग-प्रत्यंग में धीरे-धीरे यौवन का प्रवेश प्रारम्भ हो चुका था; किन्तु सोना को इसका ज्ञान न था। उसके स्वभाव में अब भी वही लापरवाही, वही अल्हड़पन और भोलापन था जो आठ साल की बालिका के स्वभाव में मिलेगा।

× × × ×

सोना का विवाह तय हो गया। वर की आयु २२ या २३ साल की थी। वह सुन्दर, स्वस्थ और चरित्रवान् नवयुवक थे। एक प्रेस में नौकरी करते थे; ७५) माहवार तनख्वाह पाते थे। घर में एक बूढ़ी माँ को छोड़कर और कोई न था। बिहार के रहने वाले थे। कुछ ही दिनों से यू० पी० में आये थे। परदे के बड़े पक्षपाती और पुरानी रूढ़ियों के कायल थे। नाम था विश्वमोहन। जब तिवारी जी ने विश्वमोहन और उनके घर को देखा तो उनकी खुशी का ठिकाना न रहा। विश्वमोहन बाबू, क्या पूरे साहब देख पड़ते थे। उनके घर में खिड़की और दरवाजों पर चिकें पड़ी हुई थीं; जमीन पर एक दरी पड़ी थी। जिस के बीच में एक गोल मेज थी। मेज के आस-पास कुर्सियाँ पड़ी थीं। जब विश्वमोहन ने तिवारी जी से चाय पीने को आग्रह किया और तिवारी जी को उनके आग्रह से चाय पीनी पड़ी तो वहाँ का साज-सामान देखकर तिवारी जी चकित हो गए। हर्ष से उनकी आखें चमक उठीं। सुन्दर-सुन्दर प्यालों में मेज पर चाय पीने का तिवारी जी के जीवन में पहिला ही अवसर था। चाय पीने के बाद तिवारी जी ने दो गिन्नी वरीक्षा में देकर शादी पक्की करली। रास्ते में नारायण बोला—"कहो तिवारी जी, है न लड़का सौ में एक ? है कोई तुम्हारे गाँव में ऐसा ? जब कपड़े पहन कर हैट लगाकर निकलता है तब कोई नहीं कह सकता कि साहब नहीं है। सब लोग झुक के सलाम करते हैं। घर में देखा। कितना पर्दा है। सब खिड़की दरवाजों पर चिक पड़ी हैं। इनकी माँ बूढ़ी हो गई है; पर क्या मजाल कि कोई परछाईं भी देख ले। दोनों समय चाय पीते हैं; कुर्सियों पर बैठते हैं।"

तिवारी जी ने हर्षोन्मत्त होकर कहा—"भाई नारायण, हम तुम्हारे इस उपकार के सदा आभारी रहेंगे। हमारे ढूँढे तो ऐसा घर-बार नहीं मिलता। हम देहात के रहने वाले शहर का हाल-चाल क्या जानें ? पर तुमने मेरी सोना को अपनी लड़की सरीखी समझ कर जो उसके लिए इतनी दौड़-धूप की है और ऐसा अच्छा जोड़ा मिला दिया है, इस उपकार का फल तुम्हें ईश्वर देगा।"

नारायण—"अच्छा तिवारीजी अब जाकर विवाह की तैयारी करो। देखना इन्हें खाने-पीने का कुछ कष्ट न होने पावे। शहर के आदमी हैं, सब तकलीफें सह लेंगे पर भूख नहीं सह सकेंगे। खाते भी अच्छा हैं; देहात की मिठाई अच्छी न लगेगी; कोई शहर का ही हलवाई ले जाकर मिठाई बनवा लेना, समझे।"

तिवारी जी खुशी-खुशी घर लौटे। घर आकर जब उन्होंने नन्दो के सामने वर के रूप और गुण का बखान किया तो नन्दो फूली न समाई। वह जैसे घर-वर सोना के लिए चाहती थी, ईश्वर ने उसकी साध पूरी कर दी। इस कृपा के लिए उसने परमात्मा को शतशः धन्यवाद दिए, और नारायण को उसने कोटि-कोटि मन से आशीर्वाद दिया, जिसने इतनी दौड़-धूप करके मनचाहा घर और वर सोना के लिए खोज दिया था।

सोना ने जब सुना कि उसका विवाह हो रहा है तब वह दौड़ कर आई; उसने माँ से पूछा—

"माँ विवाह कैसा होता है और क्यों होता है ?"

माँ के सामने यह बड़ा जटिल प्रश्न था, वह समझ ही न सकी कि इसका क्या उत्तर दे, किन्तु चतुर जानकी ने

तुरन्त बात बना ली; बोली—"सोना ! विवाह हो जाने पर अच्छे-अच्छे गहने कपड़े मिलते हैं। इसलिए विवाह होता है।"

सोना—"बूआ जी फिर क्या होता है।"

जानकी—"फिर सास के घर जाना पड़ता है; सो मैं तुझे अपने साथ ले चलूँगी !"

सोना—"सो तो मैं पहले से ही जानती थी बुआ जी कि विवाह करने पर सास के घर जाना पड़ता है, पर मैं कहीं नहीं जाऊँगी; अभी से कहे देती हूँ; विवाह करो चाहे न करो।"—कहती हुई सोना खेलने चली गई।

नन्दो का मातृप्रेम आँखों में आँसू बन कर उमड़ आया, बोली—

"अभी बचपन है; बड़ी होगी तब सब समझेगी।"

जानकी—"फिर तो सुसराल से एक-दो दिन के लिए भी मायके आना कठिन हो जायगा। भौजी, देखो न ? मैं ही चार-छै दिन के लिए आती हूँ तो रात-दिन वहीं की फिकर लगी रहती है। जहाँ गृहस्थी का झँझट सिर पर पड़ा सब खेलना-कूदना भूल जाता है। जब तक विवाह नहीं होता तभी तक खेलना-खाना समझो।"

नन्दो—"जानकी दीदी, तुम लोगों की कृपा से मेरी सोना सुखी रहे। जैसे उसका नाम सोना है उसके जीवन में सोना ही बरसता रहे।"

× × × ×

सोना का विवाह हो गया। रामधन तिवारी की लड़की का विवाह गाँव भर में एक नई बात थी। इस विवाह में मंगलामुखी के स्थान पर आगरे से भजन-मंडली आई थी जो

उपदेश के अच्छे-अच्छे भजन गा के सुनाया करती थी। गहने-कपड़े सब नये फैशन के थे। लँहगों का स्थान साड़ियों ने ले लिया था। जूते थे, मोजे थे, रूमाल थे, पाउडर की डिब्बी, सुगन्धित तेल और भी न जाने क्या-क्या था; जिनकी नन्दो और जानकी ने कभी कल्पना तक न की थी। गाँव की औरतों को नन्दो बड़ी खुशी-खुशी सब चीजें दिखाया करती। देखने वाली सोना के सौभाग्य की सराहना करती हुई लौट जातीं। उनकी आँखों में आज सोना से अधिक सौभाग्यवती कोई न थी। जिस दिन सोना को ससुराल के सब गहने-कपड़े पहिनाकर नन्दो ने पुत्री का सौन्दर्य निहारा तो उसका रोम-रोम पुलकित हो उठा। किसी की नजर न लग जाय, इस डर से उसने छिपा कर बालों के नीचे एक काजल का टीका लगा दिया। जिसने सोना को देखा, वही क्षण भर उसे देखता रहा। सोना सचमुच में सोना ही थी।

विदा का समय आया। माँ-बेटी खूब रोईं। जब सोना तिवारी जी की कमर से लिपट कर रोने लगी तो तिवारी जी का भी धैर्य जाता रहा। वे भी जोर से रो पड़े। सोना की विदा हो गई। विदा के बाद तिवारीजी को पुत्री के विछोह का दुःख भी था; साथ ही साथ आत्मसंतोष भी कि "पुत्री अच्छे घर ब्याही गई है; सुख में रहेगी।"

सोना ससुराल पहुँची, रास्ते भर तो जैसे-तैसे, किन्तु घर पहुँचने पर जब वह एक कोठरी में बन्द कर दी गई और बाहर की साफ हवा उसे दुर्लभ हो गई; तो उसे ससुराल का जीवन बड़ा ही कष्टमय मालूम हुआ। अब उसे गहने-कपड़े न सुहाते थे। रह-रह कर कोठरी से बाहर निकल कर साफ हवा में आने के लिए उसका जी तड़पने लगा। स्वच्छन्द

हवा में विचरने वाली बुलबुल की जो दशा पिंजरे में बन्द होने के बाद होती है, वही दशा सोना की थी। चार ही छः दिन में उसके गुलाबी गाल पीले पड़ गये; आँखें भारी रहने लगीं। एक दिन विश्वमोहन आफिस चले गये थे; सास सो रही थी; सोना आँगन के बाहर के दरवाजे के पास चली आई। चिक को जरा हटा कर बाहर देखा। यहाँ देहात की सुन्दरता तो न थी, फिर भी साफ हवा तो अवश्य थी। इतने दिनों के बाद क्षण-भर के ही लिए क्यों न हो बाहर की हवा लगते ही सोना का चित्त प्रफुल्लित हो गया। किन्तु उसी समय एक बुढ़िया उधर से निकली। सोना को उसने चिक के पास देख लिया। आकर विश्वमोहन की माँ से उसने कहा—"बहू को जरा सम्हाल कर रखा करो न साल न छै महीने, अभी से खड़ी होकर झाँकती है। यह लच्छन कुलीन घर की बहू-बेटियों को शोभा नहीं देते। बिस्सू की अम्मा! तुम्हारी इतनी उमर हो गई; आज तक किसी ने परछाईं तक न देखी और तुम्हारी ही बहू के ये लच्छन! कलियुग इसी को कहते हैं।" बुढ़िया तो उपदेश देकर चली गई, पर सोना को उस दिन बड़ी डाट पड़ी। उसकी समझ में ही न आता था कि चिक के पास जाकर उसने कौन-सा अपराध कर डाला। फिर भी बेचारी ने नतमस्तक हो सभी झिड़कियाँ सह लीं और दूसरा चारा ही क्या था?

इसी बीच जब तिवारी जी सोना को लेने आए तो उसे ऐसा जान पड़ा जैसे किसी ने डूबते से उभार लिया हो। पिता को देखकर बड़ी खुशी हुई। उसने मन ही मन प्रतिज्ञा की कि अब के जाऊँगी तो फिर यहाँ कभी न आऊँगी।

लेकिन शहर वाले बहू को मायके में ज्यादा रहने ही कब

देते हैं ? सोना को मायके आए अभी १५ दिन भी न हुए थे कि विश्वमोहन सोना को लेने के लिए आ गए। वे जब आ रहे थे, सोना उन्हें रास्ते में ही विही के पेड़ पर चढ़ी हुई मिली। उसके साथ और भी बहुत लड़के-लड़कियाँ थीं। सोना का सर खुला था और वह विही तोड़-तोड़ कर खा रही थी और अपनी जूठी विही खींच-खींच कर मारती भी जा रही थी और ऊपर बैठी-बैठी हँस रही थी। सोना को विश्वमोहन ने देखा, किन्तु सोना उन्हें न देख सकी। पत्नी की चाल-ढाल विश्वमोहन को न सुहाई, उनकी आँखों में खून उतर आया, पर वे चुपचाप अपने क्रोध को पी गए। किन्तु उसी समय उन्होंने मन ही मन प्रतिज्ञा की कि अब वे सोना को मायके कभी न भेजेंगे। वे जाकर चौपाल में मूढ़े पर बैठे ही थे कि अपने बाल-सखा और सहेलियों के साथ सोना भी पहुँची। विश्वमोहन को देखते ही उसने हाथ की विही फेंक दी और सिर ढक कर अन्दर भाग गई। फिर ससुराल जाना पड़ेगा, इस भावना-मात्र से ही उसका हृदय व्याकुल हो उठा।

सोना फिर ससुराल आई। अब की बार आने के साथ ही घर का सारा भार सोना को सौंप कर सोना की सास ने घर-गृहस्थी से छुट्टी ले ली। कभी घर का काम करने का अभ्यास न होने के कारण सोना को घर के काम करने में बड़ी दिक्कत होती, इसके लिए उसे रोज सास की झिड़कियाँ सहनी पड़तीं। सोना ने तो खेलना, खाना और तितली की तरह उड़ना ही सीखा था। गृहस्थी की गाड़ी में उसे कभी जुतना पड़ेगा यह तो उसने कभी सोचा ही न था। किन्तु यह कठिनता महीने-पन्द्रह दिन की ही थी। अभ्यास हो जाने पर फिर सोना को काम करने में कुछ कठिनाई न पड़ती।

घर में रात-दिन वन्द रहने की आदत न थी, वाहर जाने के लिए उसका जी सदा व्याकुल रहता। यदि कभी खिलौने वालों की आवाज सुनती या "चना चोर गरम" की आवाज उसके कान में पड़ती तव वह तड़प-सी जाती। अपना यह कैदखाने का जीवन उसे कष्टकर मालूम पड़ता। किन्तु सोना बहुत दिनों तक अपने को न रोक सकी। वह सास और पति की आँख वचाकर गृह-कार्य के पश्चात् कभी खिड़की, कभी दरवाजे के पास, जव जैसा मौका मिलता जाकर खड़ी हो जाती; वाहर का दृश्य, हरे-हरे पेड़-पत्तियाँ देखकर उसे कुछ शाँति मिलती। वाहर ठण्डी हवा को स्पर्श करके उसमें जैसे कुछ जीवन आ जाता। वह जानती थी कि खिड़की या दरवाजे के पास वह कभी किसी बुरे उद्देश्य से नहीं जाती, फिर भी पति नाराज होंगे सास झिड़कियाँ लगावेंगी; इसलिए वह सदा उनकी नजर वचाकर ही यह काम करती। मुहल्ले वालों को यह वात सहन न हुई—कल की आई हुई बड़े घर की बहू सदा खिड़की दरवाजों से लगी रहे। अवश्य ही यह आचरण-भ्रष्ट है? धीरे-धीरे आसपास के लोगों में सोना के आचरण की चर्चा होने लगी। पुराने विचार वाले, पर्दा के पक्षपातियों को सोना की हर एक हरकत में बुराई छोड़ भलाई नजर ही न आती थी। मुहल्ले के विगड़े दिल शोहदे, सोना के दरवाजे पर से दिन में कई वार चक्कर लगाते और आवाजें कसते।

किन्तु न तो सोना का इस तरफ ध्यान होता और न उसे इसकी कुछ परवाह थी। वह तो प्रकृति की पुजारिन थी। खिड़की-दरवाजों के पास वह प्रकृति की शोभा देखती थी; लोगों की वातों की ओर तो उसका ध्यान भी न था।

इस वीच में, किसी काम से सोना की सास को कुछ दिन

के लिए गाँव में जाना पड़ा। अब पति के अफिस जाने के बाद वह स्वच्छन्द हिरणी की तरह फिरा करती थी। कोई रोक-टोक करने वाला तो था ही नहीं; अब कभी-कभी वह चिक से बाहर भी चली जाया करती। आस-पास की कई औरतों से जान-पहिचान भी हो गई। वे लोग सोना के घर आने-जाने लगीं। सोना भी कभी-कभी लुक-छिप के दोपहर के सन्नाटे में उनके घर हो आती। सोना के बारे में, उसके आचरण के विषय में लोग क्या बकते हैं, सोना न जानती थी। वह तो उन्हें अपना हितैषी और मित्र समझती थी। वही लोग जो सोना से घुल-मिलकर घंटों बातचीत किया करते बाहर जाकर न जाने क्या-क्या बकते। धीरे-धीरे इसकी चर्चा विश्वमोहन के भी कानों तक पहुँची। इन सब बातों को रोकने के लिए उन्होंने अपनी माँ की उपस्थिति आवश्यक समझी। इसलिए माँ को बुलावा भेजा। साथ ही सोना को भी समझा दिया कि वह बहुत सम्हल कर रहा करे। सास के आने पर सोना के ऊपर फिर से पहरा बैठ गया। किन्तु वह तो गाँव की लड़की थी; साफ हवा में विचर चुकी थी। उसके लिए सख्त परदे में बिल्कुल बन्द होकर रहना बड़ा कठिन था। इसलिए उसका जीवन बड़ा दुखी था। उससे घर के भीतर बैठा ही न जाता था। जरा मौका पाते ही बाहर साफ हवा में जाने के लिए उसका जी मचल उठता; और वह अपने आप को न रोक सकी। विश्वमोहन ने एकान्त में उसे कई बार समझाया कि सोना के इस आचरण से उनकी बहुत बदनामी हो रही है; इसलिए खिड़की-दरवाजों के पास न जाया करे; बाहर न निकला करे। एक-दो दिन तक तो सोना को उनकी बातें याद रहतीं;

किन्तु वह फिर भूल जाती और वही हाल फिर हो जाता। फिर वह खिड़की-दरवाजों के पास जाती; फिर बाहर की साफ हवा में जाने के लिए, प्रकृति के सुन्दर दृश्यों को देखने के लिए उसकी आँखें मचल उठतीं।

एक दिन विश्वमोहन को किसी काम से शहर के बाहर जाना था। सोना ने पति का सामान ठीक कर उन्हें स्टेशन रवाना किया। सास खाना खा चुकने के बाद लेट गईं। सोना ने अपनी गृहस्थी के काम-धन्धे समाप्त करके, कंघी-चोटी की, कपड़े बदले, पान बना के खाया फिर एक पुस्तक लेकर पढ़ने के लिए खाट पर लेट गई। पुस्तक कई बार की पढ़ी हुई थी, दो-चार पेज उलट-पलट कर देखे; जी न लगा। उसी समय ठेले वाले ने आवाज दी "दो पैसे वाला" "दो पैसे वाला, सब चीजें दो-दो पैसे में लो।" किताब फेंक कर सोना दरवाजे की तरफ दौड़ी, ठेले वाला दूर निकल गया था; दूर तक नजर दौड़ाई; कहीं भी न देख पड़ा; निराश होकर लौटने ही वाली थी कि पड़ौस ही में रहने वाला बनिए का लड़का फैजू दौड़ा हुआ आया बोला—"भौजी! सुई-तागा हो तो जरा मेरे कुर्ते में बटन टाँक दो, मैं कुश्ती देखने जाता हूँ।"

सोना ने पूछा—"कुश्ती देखने जाते हो या लड़ने?"

फैजू ने मुस्करा कर कहा—"दोनों काम करने भौजी!" पर पहिले बटन तो टाँक दो; नहीं तो देरी हो जायगी।"

सोना सूई-धागा लाकर बटन टाँकने लगी। फैजू वहीं फर्श पर सोना से जरा दूर हट कर बैठ गया।

× × × ×

गाड़ी तीन घण्टे लेट थी। विश्वमोहन ने सोचा, यहाँ बैठे-बठे क्या करेंगे? जब तक घर में ही बैठकर आराम

करेंगे। सामान स्टेशन पर ही छोड़ कर स्टेशन मास्टर की साइकिल लेकर विश्वमोहन घर पहुँचे। बैठक में फैजू को सोना के पास बैठा देख कर उनके बदन में आग-सी लग गई। वे क्षण भर वहीं खड़े रहे परन्तु इस दृश्य को वे गवारा न कर सके। अपने गुस्से को चुप-चाप पीकर अन्दर आये, माता के पास बैठ गए। सोना से पति की नाराज़ी छिपी न रही। ज्यों-त्यों किसी प्रकार बटन टाँककर कुरता फैजू को देकर वह अन्दर आई। सोना ने स्वप्न में भी न सोचा था कि यह ज़रा-सी बात यहाँ तक बढ़ जायगी। पति का चेहरा देख कर वह सहम-सी गई। उनकी त्यौरियाँ चढ़ी हुईं, चेहरा स्याह और आँखें गीली थीं। सोना अन्दर आई विश्वमोहन ने उसकी तरफ आँख उठाकर भी न देखा। उसने डरते-डरते पति से पूछा—"कैसे लौट आए?"

विश्वमोहन ने रुखाई से दो शब्दों में उत्तर दिया—"गाड़ी लेट है।"

सोना ने फिर से छेड़ा—"अब कब जाओगे?"

विश्वमोहन ने एक तीव्र दृष्टि पत्नी पर डाली और कठोर स्वर में बोले—"गाड़ी तीन घण्टे बाद जायगी; तब चला जाऊँगा।"

सोना फिर नम्रता से बोली—"तो इस प्रकार बैठे कब तक रहोगे? मैं खाट बिछाए देती हूँ, आराम से लेट जाओ।"

"तुम्हें कष्ट करने की आवश्यकता नहीं। मैं बहुत अच्छी तरह हूँ।" विश्वमोहन ने कड़े स्वर में रुखाई से कहा। सोना के बहुत आग्रह करने पर विश्वमोहन ने कमरे में पैर रखा; न वे कुछ बोले और न खाट पर ही लेटे; कुर्सी पर बैठ गए। एक पुस्तक उठाकर उसके पन्ने उलटने लगे। पढ़ने

के नाम से कदाचित एक अक्षर भी न पढ़ सके हों, किन्तु इस प्रकार वे अपनी अन्तरवेदना को चुपचाप लहू की घूँट की तरह पी रहे थे। सोना का आचरण उन्हें हजार-हजार विच्छुओं के दंशन की तरह पीड़ा पहुँचा रहा था। पति की आन्तरिक वेदना सोना से छिपी न थी। वह जरा खिसक कर उनके पास बैठ गई। धीरे से उसने अपना सिर विश्व-मोहन के पैरों पर धर दिया, बोली—

"इस बार मुझे माफ करो, अब तुम जो कुछ कहोगे मैं वही करूँगी; मुझ से नाराज न होओ।"

विश्वमोहन के पैरों पर जैसे किसी ने जलती हुई आग धर दी हो, जल्दी से उन्होंने अपने पैर समेट लिए और तिरस्कार के स्वर से बोले—"यह बात आज क्या तुम पहिली ही बार कह रही हो? यह मौखिक प्रतिज्ञा है, हार्दिक नहीं। मैं सब जानता हूँ। तुम्हारे कारण तो मैं शहर में सिर उठाने लायक नहीं रहा। जिधर जाओ उधर लोग तुम्हारी चर्चा करते हुए देख पड़ते हैं। मेरे तुम्हारे मुँह पर कोई कुछ नहीं कहता तो क्या हुआ? बाद में तो काना-फूसी करते हैं। तुम्हारे ऊपर तो जैसे इसका कुछ असर ही नहीं पड़ता। जो जी आता है करती हो, भला वह शोहदा तुम्हारे पास बटन टँकवाने क्यों आया? क्या तुम इन्कार न कर सकती थीं? तुम यदि शह न दो तो कैसे कोई तुम्हारे पास आवे?"

सोना ने भय-कातर दृष्टि से पति की ओर देखते हुए कहा—"जरा-सा तो काम था। पड़ोसी-धर्म के नाते मैंने सोचा कि कर ही देना चाहिये। नहीं तो इन्कार क्यों नहीं कर सकती थी?"

"इसी प्रकार जरा-जरा सी बातों से बड़ी-बड़ी बात भी हो जाया करती हैं। निभाया करो पड़ोसी-धर्म; मेरी इज्जत का ख्याल मत करना" कहते हुए विश्वमोहन बाहर चले गए। साइकिल उठाई और स्टेशन चल दिए।

आहत-अपमान से सोना तड़प उठी। वह कटे हुए वृक्ष की भाँति खाट पर गिर पड़ी, रोई। रो लेने के बाद उसका जी कुछ हल्का हुआ। उसे अपने गाँव का स्वच्छन्द जीवन याद आने लगा। देहाती जीवन की सुखद स्मृतियाँ एक-एक करके सुकवि की सुन्दर कल्पना की भाँति उसके दिमाग में आने लगीं। उसे याद आया, किस प्रकार जाड़े के दिनों में अलाव के पास न जाने कितनी रात तक बूढ़े, जवान, युवतियाँ और बच्चे सब एक साथ बैठकर आग तापते हुए पहेलियाँ सुझाते और किस्से-कहानियाँ कहा करते थे। किसी के साथ किसी प्रकार का बन्धन न था। नदी पर गाँव भर की बहू-बेटियाँ कैसे स्नान करने को जाती थीं, और फिर सब एक साथ गाती हुई लौटती थीं। कितना सुखमय जीवन था वह। चने के खेत में नर्म-नर्म चने की भाजी तोड़कर सब एक साथ ही किस प्रकार खाया करते थे, और कभी-कभी छीना-झपटी भी हो जाया करती थी। हँसी-मजाक भी खूब होता था; किन्तु वहाँ किसी को कुछ शिकायत न थी। अपने पड़ोसी कुन्दन के लिए वह माँ से लड़-भिड़कर भी मिठाई ले जाया करती थी। नदी पर नहाने के बाद कभी-कभी कुंदन उसकी धोती भी तो धो दिया करता था; किन्तु वहाँ तो इसकी चर्चा भी नहीं हुई। क्रोशिये से एक सुन्दर-सा पोत का बटुआ बना कर सबके सामने ही तो उसने कुन्दन को दिया था जो अब तक उसके पास रखा होगा; पर वहाँ तो इस पर किसी

को भी बुरा न लगा था। वहाँ सब लोगों को सबसे बोलने, बात करने की स्वतन्त्रता थी। कुन्दन की भाभी, नई-ही-नई तो विवाह के आई थी, पर हम लोगों के साथ ही रोज नदी नहाने जाया करती थी; और साथ बैठकर झूला भी झूला करती थी, अलाव के पास बैठा करती थी। फिर मैंने कौनसा ऐसा पाप कर डाला, जिसके कारण इन्हें शहर में सर उठाने की जगह नहीं रही। यदि किसी का कुछ काम कर देना, बोलना, या बातचीत करना ही पाप है, तो कदाचित यह पाप जाने अनजाने मुझसे सदा ही होता रहेगा। मेरे कारण उन्हें पद-पद पर लांछित होना पड़े, तो मेरे इस जीवन से तो मर जाना अच्छा है। मैं घर के अन्दर परदे में नहीं बैठ सकती, यही तो मेरा अपराध है न? इसी के कारण तो लोग मेरे आचरण तक में धब्बे लगाते हैं? मैं लोगों से अच्छी तरह बोलती हूँ, प्रेम का व्यवहार रखती हूँ, यही तो मुझमें बुराई है न? आज उन्हें मुझ पर क्रोध आया; उन्होंने तिरस्कार के साथ मुझे झिड़क दिया। इसमें उनका कोई कसूर नहीं है। पत्थर के पाट पर भी रस्सी के रोज-रोज के घिसने से निशान पड़ ही जाते हैं, फिर वे तो देव तुल्य पुरुष हैं। उनका हृदय तो कोमल है, इन अपवादों का असर कैसे न पड़ता? रामचन्द्रजी सरीखे महापुरुष ने भी तो जरा-सी ही बात पर गर्भवती सीता को वनवास दे दिया था, फिर ये तो साधारण मनुष्य ही हैं। इन्होंने तो जो कुछ कहा ठीक ही कहा। पर इसमें मेरा भी कौन-सा दोष है? किन्तु जब उन्हीं के हृदय में सन्देह ने घर कर लिया तो मैं जीती हुई भी मरी से गई बीती हूँ। इसी प्रकार अनेक तरह के संकल्प-विकल्प सोना के मस्तिष्क में आये और चले गए।

× × × ×

तीन दिन के बाद विश्वमोहन लौटे। जानें के पहिले उनमें और सोना में जो कुछ बात-चीत हुई थी, वे उसे प्रायः भूल न गए थे। सोना के लिये अच्छी-सी साड़ी, एक जोड़ी पैरों के लिए सुन्दर से स्लीपर और कुछ हेयर-क्लिप लिए हुए वे घर आए किन्तु सामने ही चबूतरे पर उन्हें फैजू बैठा हुआ मिला। पास की हरी-हरी घास पर अपना तीतर चरा रहा था। विश्वमोहन उसे देखते ही तिलमिला उठे, सन्देह और भी गहरा हो गया। सारी बात ज्यों-की-त्यों फिर ताजी हो गई। उनका हृदय बड़ा विचलित और व्यथित हुआ; न जाने कितनी प्रकार की शंकायें उन्हें व्याकुल करने लगीं। उनका चेहरा फिर गंभीर हो गया। घर आकर वे सोना से एक बात भी न कर सके। माँ से एक दो बातें कर, बिना भोजन किए ही वे आफिस चले गए। सोना से यह उपेक्षा न सही गई। पिछले तीन दिन से वह खिड़की-दरवाजों के पास भी न गई थी; और उसने यह निश्चय कर लिया था कि अब वह कभी भी खिड़की-दरवाजों के पास न जायगी। किन्तु विश्वमोहन की इस उपेक्षा ने उसके हृदय के घाव को और भी गहरा कर दिया। सोना अब इससे अधिक न सह सकती थी। अपने जीवन को समाप्त करने का उसे कोई साधन न मिला। आँगन में लगे हुए धतूरे के पेड़ से उसने दो-तीन फूल तोड़ लिये और पीस कर पी गई। कुछ ही क्षण बाद सोना के हाथ-पैर अकड़ने लगे; उसकी जबान ऐंठ गई और चेहरा काला पड़ गया। वह देखती थी किन्तु बोल न सकती थी। इसी समय तिवारी जी आ पहुँचे; वे सोना को विदा कराने आए थे। सोना पिता को देखकर बहुत रोई। सारे घर में भी कुहराम मच गया और देखते ही देखते सोना के प्राण पखेरू उड़ गए।

यह ऐसी नींद थी जिसने सोना को सदा के लिए शान्ति दे दी। अपवादों की विषैली वायु अब उसे छू भी न सकती थी।

शाम को छः बजे विश्वमोहन आफिस से लौटे। घर में रोने की आवाज सुनकर किसी अज्ञात आशंका से उनका हृदय विचलित हो उठा। घर में आकर देखा; तिवारीजी कन्या को अपनी गोद में लिये हुए ढाड़ें मार-मार कर रो रहे हैं। तिवारीजी इस बीच कई बार कन्या को लेने आ चुके थे; किन्तु विश्वमोहन ने विदा न की। विश्वमोहन और तिवारी जी से कोई विशेष बातचीत न हुई; अन्तिम संस्कार की तैयारी होने लगी। अन्तिम संस्कार के बाद जब विश्वमोहन लौटे तो मेज पर सोना का पत्र मिला—

"मेरे देवता मैं मर रही हूँ। मरने वाला झूठ नहीं बोला करता। आज तो अन्तिम बार विश्वास कर लेना—मैं निर्दोष थी, मुझे ऐसा लगता है कि या तो दुनिया मेरे लायक नहीं है या मैं ही इस दुनिया के योग्य नहीं हूँ, इस छल-कपट से परिपूर्ण संसार में मुझे भेजकर शायद विधाता ने उचित नहीं किया था। आप मेरी एक कठिनाई और भी शायद नहीं समझ सके; एक वातावरण से सहसा दूसरे वातावरण में पहुँच कर मैं अपने को शीघ्र ही अनुकूल बना लेने में असमर्थ पाती थी; अपने मरने का मुझे कोई अफसोस नहीं, दुःख है तो केवल इतना है कि मैं आपको कभी खुश न कर सकी।

हिन्दुस्तानी कोष

— सम्पादक —

श्री पं० हरिशङ्कर शर्मा

पृष्ठ संख्या ६४०　　　　मूल्य ६)

सैकड़ों वर्षों के सम्पर्क के कारण उर्दू हमारे जीवन में घुल-मिल सी गई है तथा उर्दू में काव्य साहित्य भी उच्चकोटि का है। इस कोष की रचना इसी निमित्त की गई है कि जो उर्दू लिपि नहीं जानते वे नागरी लिपि की सहायता से उर्दू साहित्य का अनुशीलन या अध्ययन कर सकें।

आकार

$\frac{२० \times ३०}{१६}$

प्रकाशक

गयाप्रसाद एण्ड संस

आगरा　कानपुर　गवालियर　जयपुर

अभिनव

अँगरेजी – हिन्दी कोष

—सम्पादक—

श्री पं० केदारनाथ भट्ट, एम. ए., एल-एल. बी.

पृष्ठ लगभग ६६०   सजिल्द   मूल्य ७।)

आकार

७० × ३०
―――
१६

■ प्रस्तुत कोष के संकलन में कई उद्देश्य सामने रक्खे गये हैं। अँगरेजी के केवल व्यवहारिक शब्द ही लिये गये हैं। भाषा के वर्धमान विकास में जो नये शब्द ग्रहण किये गये हैं उन्हें सन्निविष्ट कर दिया गया है। अँगरेजी के मुहावरे और लोकोक्तियों को भलीभाँति समझाया गया है। अँगरेजी का उच्चारण कठिन है अतः इसमें देवनागरी में दिया गया है। तात्पर्य यह कि अँगरेजी पढ़ने वालों तथा अँगरेजी से अनुवाद करने वालों की सामान्य आवश्यकतायें इस कोष द्वारा सहज ही पूरी हो सकेंगी। ■

—प्रकाशक—

—गयाप्रसाद एण्ड संस—

आगरा, कानपुर, ग्वालियर, जयपुर